श्रीकृष्ण-सन्देश
वर्ष ७ : अंक १२

निगमामृत

[पुरुष-सूक्त]

५.

तस्माद् विराडजायत विराजो अधि पूरुषः ।
स जातो अत्यरिच्यत पश्चाद् भूमिमथो पुरः ॥

प्रकट हुआ उस आदि पुरुषसे ही विराट ब्रह्माण्ड शरीर,
उस विराटमें अभिमानी बन हुआ प्रविष्ट पुरुष मति-धीर।
श्रेष्ठ पुरुष वह उस विराटसे पृथक् हुआ सुर आदिक-रूप,
भूकी सृष्टि हुई फिर निर्मित हुए जीव-हित पुर अनुरूप ॥

६.

यत्पुरुषेण हविषा देवा यज्ञमतन्वत ।
वसन्तोऽस्यासीदाज्यं ग्रीष्म इध्मः शरद्धविः ॥

देवोंने फिर उसी पुरुषका किया हविष्य रूपमें ध्यान,
और प्रवर्तित किया उसीसे मंजुल मानस-यज्ञ-वितान।
माना गया वसंत रुचिर उस आदि यज्ञमें घृतका रूप,
कल्पित इंधन हुआ ग्रीष्म था, सुंदर शरद हविष्य अनूप ॥

कृपालु ग्राहकोंसे—

इस अङ्कके साथ 'श्रीकृष्ण-सन्देश'का सातवाँ वर्ष पूर्ण हो रहा है। अगला अङ्क ८वें वर्षका प्रथम अङ्क होगा। अतः कृपालु ग्राहक यह अङ्क मिलनेके साथ ही मनिआर्डर द्वारा अपना अग्रिम वर्षका चन्दा ७) रु० भेजनेका अनुग्रह करें। हो सके तो एक-दो नवीन ग्राहक भी बनानेकी कृपा करें वी० पी० भेजनेमें व्यर्थका खर्च पड़ता है।

आठवें वर्षका प्रथम अङ्क 'श्रीअरविन्दाङ्क' होगा। चालू वर्ष उनकी जन्मशतीका वर्ष होनेसे यह विशेष आयोजन किया गया है, जिसमें श्री अरविन्दकी चुनी वैचारिक सामग्री संकलित की जा रही है। आज ही ग्राहक बन अपनी प्रति सुरक्षित करा लें। अन्यथा बादमें हमें आपकी माँग पूरी करनेमें कठिनाई होगी।

सितम्बरका अङ्क 'जन्माष्टमी-विशेषांक' होगा, जिसमें श्रीकृष्ण-सम्बन्धी अनेक विचारपूर्ण एवं रोचक सामग्रीका संचयन किया जा रहा है।

आशा है, कृपालु पाठक पूर्ववत् हमें सहयोग देते रहेंगे।

व्यवस्थापक

'श्रीकृष्ण-सन्देश' श्रीकृष्ण-जन्मस्थान, मथुरा

सिक

संख्या ●

: १२

९७२

५१९८

शुल्क ●

: ७ रु०

: १५१ रु०

श्रीकृष्ण-सन्देश

धर्म, अध्यात्म, साहित्य एवं संस्कृति-प्रधान मासिक

प्रवर्तक

ब्रह्मलीन श्री जुगलकिशोर बिरला

सम्मानित

● सम्पादक-मण्डल

आचार्य सीताराम चतुर्वेदी

डा० विद्यानिवास मिश्र

विश्वम्भरनाथ द्विवेदी

डॉ० भगवान् सहाय पचौरी

● सम्पादक

पाण्डेय रामनारायणदत्त शास्त्री 'राम'

गो० न० वैजापुरकर

संख्या ●

वर्ष : ७, अङ्क : १२

जुलाई, १९७२

श्रीकृष्ण-संवत् : ५१९८

शुल्क ●

वार्षिक : ७ रु०

आजीवन : १५१ रु०

प्रबन्ध-सम्पादक

देवधर शर्मा

प्रकाशक :

श्रीकृष्ण-जन्मस्थान-सेवासंघ, मथुरा

दूरभाष : ३३८

भूल-सुधार

[श्रीकृष्णसंदेश वर्ष ७ अंक १० में श्री मनोरमा सिनहा एम० ए० एल० टीका एक लेख प्रकाशित हुआ है, जिसका शीर्षक है—'व्रजप्रदेशकी मीरा; भक्तिमती श्री मोहिनी देवीजी।' इस लेखमें एक स्थानपर ऐसा आया है 'इनके पति... असमयमें चल बसे।' इस अंशका हमारे विद्वान लेखक श्री अवधविहारी लालजी कपूर' ने विरोध किया है, हम इनका पत्र ज्योंका त्यों यहाँ उद्धृत करते हैं—संपादक]

आदरणीय सम्पादकजी,

नमस्कार। श्रीकृष्ण-सन्देशके इस वर्षके अंक १० में 'व्रज-प्रदेशकी मीरा भक्तिमती श्री मोहिनी देवीजी' शीर्षक लेखमें छपा है कि 'मोहिनी देवीके पति असमयमें संसार छोड़ गये।' यह असत्य है। सत्य यह है कि मोहिनी देवीको अपने सुहागकी चिंता रहा करती थी और वे अपने इष्ट देव श्री गौरांग महाप्रभुसे इसके लिए प्रार्थना किया करती थीं। श्री राधारमण-पदावलीमें उनके निम्नलिखित पदसे जान पड़ता है कि 'श्री गौराङ्ग महाप्रभुने उनके माथेपर अपने हाथसे बिन्दी लगाकर और शिवजीने उनके सिरपर हाथ फेरकर उन्हें अखंड सुहागका आशीर्वाद दिया था :—

गौर हरि एक बेंदी दई, अपने नामकी छाप।
शची-नन्दनकी कृपा तें, मिटे सकल संताप॥
काम-दमन त्रिपुरारिने, ले गिरिजाको साथ।
बहुत कृपा मो पै करी, फेरो सिर पै हाथ॥

आशीर्वादके फलस्वरूप उन्हें पतिदेवके रहते ही देह-त्याग करनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ। उनके पति श्री शंकर सिंहजी भगवत्-कृपासे आज भी जीवित हैं और वृन्दावनमें रहकर भजन कर रहे हैं।

१८२ राधारमण
वृन्दावन
६-६-७२

आपका
अवधविहारी लाल कपूर

मासिक व्रत, पर्व एवं महोत्सव

[संवत् २०२९ आषाढ़ शुक्ल द्वितीया १२ जुलाई '७२ से श्रावण शु० तृतीया १२ अगस्त '७२ तक]

जुलाई : १९७२ ई०

दिनांक	वार	व्रत-पर्व
१२	बुधवार	रथयात्रा (आ० शु० द्वितीया)
१४	शुक्रवार	श्रीगणेशचतुर्थी व्रत
१६	रविवार	कुमारषष्ठी, मनसापूजा (बंगाल)
१७	सोमवार	वैवस्वत-सप्तमी
१९	बुधवार	मेला शरीक भगवती (काश्मीर)
२२	शनिवार	हरिशयनी एकादशी व्रत सबके लिये
२३	रविवार	प्रदोष व्रत (१२)
२५	मंगलवार	व्रतकी पूर्णिमा, मेला ज्वालामुखी (काश्मीर)
२६	बुधवार	गुरुपूर्णिमा, व्यास-पूजा
२९	शनिवार	श्री गणेशचतुर्थी व्रत
३१	सोमवार	श्रावण सोमवार व्रत

अगस्त : १९७२ ई०

दिनांक	वार	व्रत-पर्व
१	मंगलवार	श्रावण कृ० ७ तिलक-जयन्ती
२	बुधवार	बुधाष्टमी
५	शनिवार	कामदा एकादशी व्रत सबके लिये
६	रविवार	प्रदोष (१२) व्रत
७	सोमवार	महाशिवरात्रि १४ व्रत, श्रावण सोमवार व्रत
९	बुधवार	स्नान-दानके लिये अमावास्या
१२	शनिवार	मधुश्रवा ३ गणेशचतुर्थी व्रत

●

अ नु क्र म

श्रीकृष्णजन्म-स्थान-सेवा-संघ

प्रत्यक्षदर्शियोंके भावभीने शब्द-सुमन

(जुलाई १९७२)

✯

हम यहाँकी स्वच्छता और पवित्रता देखकर तथा भगवान् श्रीकृष्णके दर्शन कर बहुत हो प्रसन्न हुए। पूज्य श्री रामचन्द्र शास्त्री डोंगरेजीकी कृपासे हम यहाँ आये थे। स्थान रम्य है और दान देने योग्य है।

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम ॥

गजानन विनायक परांजपे बडौदा
वामन भालचन्द्र अग्निहोत्री बडौदा

मुझे आज श्रीकृष्ण-जन्म-स्थानको देखनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ, समस्त भारतके यात्री बराबर इस ऐतिहासिक स्थानकी यात्रा करने आते हैं। यहाँ श्रीकृष्ण महाराजके सम्बन्धमें साहित्य भी प्राप्त होता है। इस स्थानको बारबार देखनेकी इच्छा होती है। यह शान्ति प्राप्त करनेके लिए सुन्दर शिक्षाप्रद स्थान है। मुझे पुनः अवसर मिलेगा तो दर्शनके लिए अवश्य आऊँगा। मैं भगवान्से इस स्थानकी सदैव लोकप्रियता बनाये रखनेकी प्रार्थना करता हूँ।

बलदेव सिंह आर्य
सामुदायिक एवं पंचायत मन्त्री
उत्तर-प्रदेश (लखनऊ)

आज भगवान् श्रीकृष्णकी जन्म-भूमि देखनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ। इस स्थानको नया और आधुनिक रूप दिया जा रहा है। यह संकल्प प्रशंसनीय है।

ठा० देवीदत्त पंत
डायरेक्टर आफ एजूकेशन, (लखनऊ)

श्रीकृष्ण-जन्म-स्थानमें आज भगवान् श्रीकृष्णके दर्शन कर बडी प्रसन्नता हुई। यहांका वातावरण बहुत अच्छा है। आगे की नवीन योजनाका भी जो कार्य चल रहा है वह इस युगमें निहायत जरूरी है।

छगनलाल, पाँचूलाल
६१४, सनेहलता गंज
इन्दौर-३

We twelve visitors from the United States, on a study tour appreciate this lovely new temple being re-constructed over the birth place of Lord Krishna.

Thomas Brown
From : Stephens College
Columbia Missourri, U. S. A.

I was happy to visit this birth place of Krishna where thousands come to have Darshan.

Sarojini Mahishi
Union Minister of State
For Tourists & Civil Aviation
Delhi

It was a great pleasure & matter of gratitude to all of us to go round the sacred birth place of Lord Krishna. We feel greatful to organiser who took us round the place & explaned every thing in detail. In fact we were absorbed & deeply moved into sentiments.

It is a privilege for me to record my deep & sincere gratitude to all who are devoting their valuable time to bring up this monument, which I wish, will be a landmark in the history of modern Hindu concept.

With all good wishes & pray to god for the success of project.

S. C. Gupta
Electric Engineer, J. K. Rayon
Kanpur

The birthplace of Lord Krishna in Mathura is a historical site & visitor to this city should not miss a visit to this place. A huge temple is under construction & which when completed will be a landmark in the history of Indian culture & religion for centuries to come. It has calm & peaceful surroundings.

R. C. Nagar Section Officer
Ministry of External Affairs
J-90, Rajoure Gardens
New Delhi–27
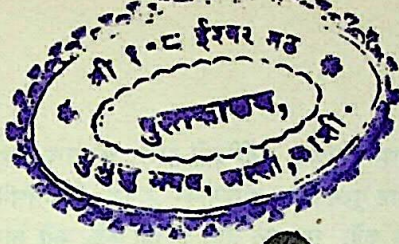
वर्ष : ७] मथुरा, जुलाई १९७२ [अङ्क : १२

यज्ञार्थ कर्म सदा ही कर्तव्य है

कोई एक क्षण भी कर्म किये बिना नहीं रह सकता। प्रकृतिके गुण सबको विवश करके उसके द्वारा कर्म करवाते रहते है। मान लो, कोई पद्मासन लगाकर नेत्र बन्द करके बैठ गया, तो क्या ऐसा करनेसे वह कार्यरहित हो गया ? क्या पद्मासन लगाना या नेत्र बन्द कर लेना कर्म नहीं है ? क्या वह इस कर्मका कर्ता नहीं हुआ ? शरीरमें स्वेद होता है, हृदय धड़कता है, रक्ताभिसरण होता है, अन्न-पाचन होता है, सांस चलती है, यह कर्म ही तो हो रहा है। निरन्तर कारखाना चल रहा है। यह ठीक है कि कोई यह सब बन्द करके समाधि लगा सकता है, किन्तु समाधि भी तो कर्म है। स्वप्नमें सुषुप्तिमें भी प्रकृतिके गुण कर्म कराते ही रहते हैं। कोई प्राणी ऐसा नहीं, जो कर्म किये बिना एक क्षण भी रह सके। शरीर प्रकृतिके पराधीन है, प्रकृतिका नियम है कि न खाने पर भूख लगेगी। पानी न पीने पर प्यास लगेगी। लेटे रहनेपर बैठनेकी इच्छा होगी। जब तक शरीर रहेगा, शरीरकी धातुएँ अपना काम करेंगी ही। इस प्रकार जब कर्म करना ही है तो व्यवस्थित रूपसे काम करो। व्यवस्थित रूपसे काम नहीं करोगे तो मिथ्याचाररूप दोषकी प्राप्ति होगी। मिथ्याचार अपने आपको ही धोखा देना है। व्यक्ति जब बाहरसे इन्द्रिय-संयम करके भीतरसे कामना-पूर्ति चाहता है तो वह मिथ्याचारी हो जाता है। संसारमें सब लोग काम करते हैं। उनमें कर्म करनेकी प्रेरणा कहाँसे आती है ? कोई मोह-प्रेरित कर्म करते हैं। यह तमोगुणकी प्रेरणा है। राग-द्वेष रजोगुणकी प्रेरणासे होते हैं। अन्तः शुद्धि, भगवत्प्रीति या समाधिके लिए किये जानेवाले कर्म सत्त्वगुणकी प्रेरणासे होते हैं। इन गुणोंसे प्रेरित मनुष्य विवश होकर तत्तत् कर्म करते हैं।

जो मनके द्वारा इन्द्रियोंको नियन्त्रणमें रखकर कर्मेन्द्रियों द्वारा अनासक्त-भावसे कर्म-योगका अनुष्ठान करता है; वह एक विशिष्ट पुरुष है। इन्द्रियोंको मनके नियन्त्रणमें रखना चाहिए। जब कहें, तब काम करें और जब कहें, तब रुक जायँ। जहाँ कहें, वहीं जायँ, जहाँ मना कर दें वहाँ न जायँ। चित्तमें किसी प्रकारकी आसक्ति न हो, कोई भोग पानेकी लालसा न हो, किसी प्राप्त क्लेशको दूर करनेकी अभ्यर्थना न हो, इस प्रकार अनासक्त-भावसे जो कर्मयोगका आरम्भ करता है; योगको ईश्वरकी प्राप्तिका साधन मानकर कर्म करता है, वह दूसरोंकी अपेक्षा विशेषता पाता है। उसका अन्तःकरण सामान्य लोगों-जैसा नहीं रहता—शुद्ध हो जाता है। समाजमें वह एक विशिष्ट पुरुष माना जाता है। वह लोकके लिए आदर्श बन जाता है।

जो कर्म तुम्हारे लिए नियत (निश्चित) कर दिया गया है। उसे तुम निश्चित रूपसे करो। कर्म करनेका नियम लो। कर्म अवश्य करो। ऐसा क्यों? ऐसा इसलिये कि प्रत्येक दशामें निकम्मे बैठे रहनेसे कर्म करना श्रेष्ठ है। पड़े रहना तो तमोगुण है। निद्रा, आलस्य और प्रमादमें पड़े रहनेकी अपेक्षा कोई-न-कोई काम करते रहना उत्तम है। जो सर्वथा कर्म न करके तमोगुणमें पड़ा है, उससे कहा जाता है 'तुम कर्म करो।' जब वह कर्म करने लगता हैं, तो उससे कहते हैं—'बुरा कर्म मत करो। अच्छा कर्म करो।' जब वह अच्छे कर्म करने लगता है तो उससे कहा जाता है 'सकाम कर्म मत करो। निष्काम भावसे कर्म करो।' जैसे संध्या-वन्दन निष्काम-भावसे होता है, ऐसे ही घरके काम भी कर्तव्य-बुद्धिसे करने चाहिए। मनुष्यमें जितनी बुराइयाँ आती हैं, सब निकम्मेपनेमें आती हैं। निकम्मापन सब बुराइयोंका घर है। अतः अपनेको निकम्मा मत रहने दो। बोलना-चलना आदि सब कर्म है। कर्मके बिना शरीर निर्वाह भी सम्भव नहीं है। यह भय मनसे निकाल दो कि 'सभी कर्म बन्धनकारक हैं; अतः बन्धनसे बचनेके लिए कर्म न करना ही अच्छा है।' सभी कर्म बन्धनकारक नहीं हैं। जो यज्ञार्थ कर्म हैं, वे बन्धनकारक नहीं होते हैं। उनसे भिन्न फलासक्तिपूर्वक किये जानेवाले कर्म ही बन्धनमें डालने वाले होते हैं; अतः तुम आसक्तिसे दूर रह कर यज्ञार्थ कर्म करो। यज्ञ दो प्रकारके होते हैं—एक अव्यक्त-प्रेरित यज्ञ। जैसे गङ्गाकी धार बह रही है। सूर्य प्रकाश और गर्मी देता है, अन्धकार और सर्दी मिटाता है। यज्ञमें लेना और देना दोनों होता है। वृक्ष खाद-पानी लेता है और फूल, फल, पत्ते, गोंद गन्ध, छाया एवं लकड़ी देता है। वृक्ष यज्ञ कर रहा है। इस प्रकार संसारकी सब वस्तुएँ यज्ञमें संलग्न हैं। अब सोचो, तुम क्या यज्ञ कर रहे हो? दूसरोंसे लेते हो। आहार, जल, श्वास, सब सुविधा लेते रहते हो; पर संसारको दे क्या रहे हो? यज्ञ त्याग, ग्रहण और नियम—इन तीनोंकी प्रधानतासे सम्पन्न होता है। यज्ञके लिए शुद्ध श्रद्धा, शुद्ध समय, शुद्ध स्थान, शुद्ध सामग्री, शुद्ध मन और शुद्ध मन्त्र-पाठ-कर्ता चाहिए। विधि न हो, नियम न हो तो केवल क्रियासे यज्ञ नहीं होता। श्रद्धारहित जो हवन, दान, तप या कर्म किया जाता है, वह असत् कहा गया है। उसका इह लोक या परलोकमें कोई फल नहीं होता। कर्म करो और बन्धनमें न पड़ो, इसके लिए युक्ति है—यज्ञार्थ कर्म। जो कर्म यज्ञके लिए होता है, उसमें आसक्ति नहीं होती, वह बन्धनका हेतु नहीं होता है। जो भोग यज्ञके लिए होता है, उसमें भी आसक्ति नहीं होती है। वह भी बन्धनका हेतु नहीं होता है। ऐसा कर्म अवश्य कर्तव्य है। उसका परित्याग नहीं किया जाना चाहिए। •

जय हे चक्र सुदर्शनधारी

जय हे चक्र सुदर्शनधारी
कलि कलुषित क्लेशित इस जगकी
करो एक तुम ही रखवारी ॥ जय हे···॥

दारुण कंस नृशंस बना-सा यह निदाघ देता दुख भारी,
उतरो हे घनश्याम धरा पर सींचो मानवताकी क्यारी।
लिप्सामयी अपूत पिशाची खड़ी पूतना-सी मुँह बाये
पीयो प्राण यशोदानन्दन। हरो भीति हे भवभयहारी ॥
जय हे···।

सुप्त हुआ मुचुकुन्द हमारा हे मुकुन्द! फिर उसे जगाओ,
अब तत्काल कालयवनोंको योग-युक्तिसे मार भगाओ।
शीश उठातीं असुरशक्तियाँ दिशा-दिशामें ईश! बचाओ,
उठे अस्त्र, अब सहन करो मत चेदिराजकी सौ-सौ गारी ॥
जय हे···।

क्रूर कौरवी दृष्टि दुष्ट वह आज चल रही चाल कुटिल है,
पापकृत्य बढ़ रहे देख अति दुःखित धर्मराजका दिल है।
अब अपमानित हो न धरा पर आर्य देशकी कोई नारी,
बागडोर लो हाथ नाथ! हो भारत फिर जयका अधिकारी ॥
जय हे···।

'राम'

भागवतका आश्रय—

भगवान्‌की गोद

श्री स्वामी अखण्डानन्द सरस्वतीजी महाराज

★

हमारे प्रभुकी लीलाका रहस्य, उनकी क्रीड़ाका उद्देश्य इतना गम्भीर और साथ ही सरल होता है कि कभी सोचते-सोचते तो कभी सरलताका अस्वादन करते-करते हम तन्मय, आत्मविस्मृत, आनन्दविभोर हो जाते हैं। न जाने अन्तर्देशके किस प्रदेशमें लुक-छिपकर बैठे रहते हैं और हमारी प्रत्येक अभिलाषाओंकी निगरानी करते हैं, रोम-रोमकी, पल-पलकी सारी लालसाओंको जानते हैं, किन्तु सम्भवतः अति लज्जाशील ही बनाये रखनेकी इच्छा है, घूँघट-पटके अन्दर ही रखनेको मौज है, अतृप्तिकी विरहाग्निमें तपानेका ही निश्चय है। अन्यथा हमारी माता प्रकृति और हम सब नन्हें-नन्हें शिशु अनादिकालसे जिन्हें पानेके लिए, जिनकी चारु-चितवन मन्द मुसकान और माधुरी मूर्तिके दर्शनके लिए, एक घूँट बस एक घूँट अधरामृत—अधर-सीधु पीनेके लिए लालायित हैं, व्याकुल हैं, अशान्त हैं, अहर्निश दौड़ लगा रहे हैं, यहाँसे वहाँ भटक रहे हैं और सो भी जन्म-जन्मान्तरोंसे, उन परमानन्द प्रभुकी एक विन्दु भी नसीव नहीं हुई होती? अवश्य-अवश्य हम उनकी रहस्य-लीलाके आनन्द पारावारमें उन्मज्जन-निमज्जन करते डूवते-उतराते होते, यदि हमारे प्रभुकी महती कृपाका एक कण भी हमें प्राप्त हुआ होता, आज वे अनन्त, अजन्मा और निराकार प्रभु हमारे सन्मुख खड़े होते, हमारे शिर पर हाथ रखे होते; हमें पुचकारते, दुलारते, वोलनेको कहते और हम अपनी आनन्दाश्रुधारासे उन मुरली-मनोहर श्यामसुन्दरके चरणारविन्दोंको भिगोते होते, वाणी न निकलती, कण्ठ गद्‌गद होता, शरीर पुलकित होता।

इसके बाद, इसके वाद वे वलात् हमें अपने कर-कमलोंसे खींचकर अपनी छातीसे चिपका लेते—गाढ़ आलिङ्गन देते, और, और क्या करते? जिसके लिए गोपियाँ तरसती थीं, प्रार्थना करती रहती थीं—

'सुरतवर्धनं शोकनाशनं, स्वरित वेणुना सुष्ठु चुम्बितम्।
इतररागविस्मारणं नृणां वितर वीर नस्तेऽधरामृतम्॥'
'अधरसीधुनाऽऽप्याययस्व नः॥'

बस फिर क्या था, हम कृतार्थ, धन्य धन्य हो गये होते। पर हम बड़े ही मन्दभागी हैं। हमारे भाग्यमें तो दूसरा ही कुछ बदा है।

हम तो त्रिगुणकी लीलाभूमि हो रहे हैं, अनिमेष दृष्टिसे उन्हींको देख रहे हैं, सोच रहे हैं। उन्हींमें सने हुए हैं और वही होगये हैं। गुण, तज्जन्य त्रिविध शरीर और अवस्थाओंको भोगते हुए तद्रूप = तादात्म्यापन्न होते हुए हम अपने वास्तविक 'स्व' को, आनन्दघन प्रभुको भूल गये हैं। उसीका यह दुष्परिणाम हुआ है कि हम कालके कराल गतिचक्रके खिलौने हो रहे हैं, अहंता-ममता, राग-द्वेष, जन्म-मृत्यु, आधि-व्याधि आदि द्वन्द्वोंके भारसे हमारा हृदय, मस्तिष्क और शरीर दब रहा है, चकनाचूर हो रहा है। उन्हींको वास्तविक रमणीय और सुखप्रद समझकर उनकी अवास्तविकता, अरमणीयता तथा दुःखरूपताको न जानकर सर्वान्तःकरणसे परमानन्द प्रभुकी ही कामना होने पर भी हम उन्हीं गुणोंके मृगजलसे प्यास बुझा कर तृप्ति प्राप्त करनेके मोहमें पड़े हुए हैं। जैसे हड्डी चबानेके कारण जब तालु फूट जाता है, तब अपने खूनका आस्वादन करके कुत्ता अपनेको सुखी मान लेता है, वैसे ही विषयोंके प्राप्त होने पर एक क्षणके लिए जब कामना शान्त होती है, अभाव दूर हो जाता है, तब वृत्तियोंकी एकाग्रतासे कुछ सुखाभासकी उपलब्धि अनुभूति-सी हो जाती हैं, क्योंकि वृत्ति लहरियोंकी शान्तिमें मानससरमें आनन्द-सूर्यका प्रतिबिम्ब पड़ने लगता है—तब हम सुखाभासको विषयोंसे प्राप्त हुआ मानकर और भी बन्धनमें—रागकी वंशपरम्परामें पड़ जाते है। किन्तु दूसरे ही क्षणमें वासना-वायुके झकोरोंसे मानस क्षुब्ध हो जाता है, वृत्तियोंकी चञ्चलतासे दृश्य व्याकुल हो जाता है और उन भगवान् सूर्यका प्रतिबिम्ब भी नहीं दीख पड़ता। फिर उसी मोहके हम शिकार हो जाते हैं। उन्हींकी मौजसे, इच्छासे, प्रेरणासे यह सब हो रहा है, ऐसा सोच-विचारकर हम सन्तोषका मार्ग भी निकाल लेते हैं, किन्तु विषय-भोगसे सन्तोष नहीं होता। यह भी उन्हींकी मर्जीपर छोड़नेको जी नहीं चाहता, उसके लिए सरतोड़ परिश्रम करते रहते हैं। कितनी विडम्बना है! बात ऐसी है कि यदि उन्हींकी इच्छापर छोड़ना है, तो स्वार्थ और परमार्थ दोनोंको छोड़ दें, कामना न करें, वाञ्छा न करें, वे ही सारी व्यवस्था करते हैं, करेंगे, करने दें, अपने डेढ़ चावलकी खिचड़ी अलग न पकायें। पूर्ण आत्मसमर्पण हो, सर्वतोभावेन शरण हो, लोक-परलोक, धर्म-अधर्म और ज्ञान-अज्ञान सब कुछ उनके चरणोंपर निछावर करके सच्ची प्रपन्नता हो। और यदि स्वार्थके लिए तो अहर्निश प्रयत्न करते रहें, जब परमार्थका स्मरण हो, चर्चा आवे, तब उनपर छोड़दें, यह तो घोर प्रमाद है, तामसिकता है, और बहिर्मुखताका परिणाम है।

वास्तविकता यह है कि जन्मसे ही हमें अपने दोष अस्वीकार करके उन्हें दूसरेके सिर मढ़ देनेकी आदत पड़ गयी है, जिसके कारण हम अपने प्रमादकी ओर दृष्टिपात न करके, उसे दूर न करके, ईश्वर, काल और प्रारब्ध पर मिथ्या दोष लगाकर अपने अनिवार्य कर्तव्य, प्रभु-प्राप्तिकी चेष्टा, साधनसे विमुख रहनेकी भूल या जी चुरानेकी चेष्टा करते हैं। इसका प्रतीकार होना चाहिए। अपनी सारी शक्ति, बल, अपने पास जो कुछ हैं; सबका प्रवाह उसी ओर कर देना चाहिए। उनकी अपार करुणा, प्रेम वात्सल्यका रसास्वादन करनेके लिए अपने हृदयको सर्वदा उन्मुक्त कर देना चाहिए।

आह ! प्रभु अपने व्यापक बाँसुरीनादसे त्रिलोकीको अपनी ओर आकर्षित कर रहे हैं, बिना अधिकारीका विचार किये सबका एक स्वरसे आवाहन कर रहे हैं, आकाश, वायु, अग्नि, समुद्र, कल-कलनिनादिनी नदियों, पृथिवी, अन्तरिक्ष और दिशा-विदिशाओंको प्रतिध्वनि द्वारा कण-कश अणु-अणुको निमन्त्रण दे रहे हैं, अपनी लम्बी-लम्बी भुजाओंको फैलाकर छातीसे लगानेके लिए आतुरता प्रकट कर रहे हैं, व्याकुल हो रहे हैं, मचल रहे हैं, अनन्त चुम्बन देनेके लिए अपना देव-दुर्लभ अधरामृत पिलानेके लिए अधर-सीधुसे हमें सराबोर, आप्लावित करनेके लिए ललक रहे हैं। वे अपनी प्रेम-दयावत्सलता और करुणाकी शान्तिमयी किरणोंसे सारे जगत्को अभिषिक्त कर रहे हैं। उन्हीं करुणा-वरुणालय प्रभुकी प्रेममयी सुधा-धारासे हम सभी आप्लावित हो रहे हैं, उसीमें उन्मज्जन-निमज्जन-अवगाहन-स्नान सब कुछ कर रहे हैं। हमारा, सारे जगत्का कण-कण उन्हींमें स्थित है, श्वास-प्रश्वास, स्पन्दन-स्पन्दन और जीवन-मरण सब उन्हींके अन्दर, उन्हींकी प्रेममयी प्रेरणासे चल रहा है, यह सब उनका प्रेममय, आकर्षणमय और चुम्बनमय स्वरूप ही है। उन प्रेम, आनन्द और शान्तिकी अनन्त मूर्तिमें वियोगविकर्षण तथा क्लेशकी सत्ता ही नहीं है, उनसे इनका स्पर्श हो नहीं है और उनकी अनन्तताके कारण ये हैं ही नहीं; ये मिथ्या हैं, अज्ञान-जन्य हैं, कल्पनामात्र, प्रतीतिमात्र हैं।

अब प्रश्न यह होता है—उनकी अपार करुणा है और उनकी सत्ता ही नहीं, तो हम इस चक्करमें क्यों पड़े हैं? हमें नाना प्रकारके क्लेशोंकी प्रत्यक्ष अनुभूति क्यों होती है? हमें साक्षात् ही भीषणताके दर्शन क्यों होते हैं? इन प्रश्नोंका उत्तर सुनकर आश्चर्य न करें। यही सच्ची बात है। इन्हें ही—चाहते हैं, अपनाये हुए हैं, इन्हींके साथ सन गये हैं और एक हो गये हैं, हम स्वेच्छासे जान-बूझकर क्लेश, भीषणता और भव-चक्रको ही वरण किये हुए हैं। हमने स्वयं चाहकर आनन्द-प्रेमस्वरूप प्रभुको इन रूपोंमें बना लिया है। हम क्या चाहते हैं? पुत्र, कलत्र, वित्त, लोक, परलोक और मान-प्रतिष्ठा तथा इनके द्वारा शरीरको क्षणिक सुख, बस यही तो! यह मिलते हैं। फल वही होता है, जो होना चाहिए। इन चञ्चल क्षणिक और अनित्य, पदार्थोंसे नित्य सुखकी आशा कैसे की जा सकती है? जो स्वयं ही विनष्ट-प्राय हैं, वे भला कैसे अविनाशी सुखका दर्शन करा सकते हैं?

तनिक ध्यान दें! जिस शरीरके लिए ही हमारी प्रत्येक चेष्टाएँ होती हैं, जिसको आराम पहुँचाना ही हमारे समस्त कार्योंका लक्ष्य रहता है, जो सबसे अधिक हमारी ममताका भाजन है, यहाँ तक कि जिससे हम अहंता भी करते हैं, वह शरीर ही कितने समय तक साथ देगा और किन पदार्थोंके संयोगसे बना हुआ है। इसके सम्बन्धियोंकी तो चर्चा ही छोड़ दीजिये। यह महा अपवित्र विष्ठा, मूत्र, माँस, पीव, रक्त, अस्थि, चर्म आदि ऐसे पदार्थोंकी पोटली है—कि विचार मात्रसे ही इससे घृणा होनी चाहिए। इससे प्रेम होनेका अभिप्राय है कि हम नरकसे ही प्रेम करते हैं, इसीसे आसक्ति, ममता और तादात्म्य होनेके कारण ही हम काम, क्रोध आदि अन्तःकरणस्थ शत्रुओं तथा निद्रा, प्रमाद और आलस्य आदि कारण शत्रुओंके अधीन अथ च उनके द्वारा अहर्निश विताडित हो रहे हैं। उन्हींके सेवनमें सारा समय व्यतीत कर रहे हैं।

हमारे सिरपर मृत्युका उद्दण्ड ताण्डव-नृत्य हो रहा है, प्रतिपल उस प्रभुको कालरूपमें ही अनुभव करनेके लिए हम आगे बढ़ रहे हैं, तो अपने नियमानुसार उसे भी मृत्युरूपमें ही हमारे सन्मुख आना ही चाहिए। वही प्रभु हमारे अन्तस्तलमें पुरुषरूपसे, आत्मरूपसे अमृतत्वकी धारा बहा रहा है, बाहर कालरूपमें मृत्युके आवागमनके कराल गतिचक्रमें डालकर पीस रहा है। कारण यह है कि उसने रमणके, बिहारके, क्रीडाके उद्देश्यसे ही अपनेको बहुत रूपोंमें प्रकट किया है। प्रत्येक अन्तःकरणसे भिन्न-भिन्न रूपमें एक अखण्डानन्दका पृथक्-पृथक् आस्वादन करनेके लिए ही बिखरे हुए अणुओंको प्रेमसे, आकर्षणसे, चुम्बनसे पिण्डीभूत करके स्वयं ही उन-उन रूपोमें अपने परमानन्दका आस्वादन कर रहा है। जहाँ आनन्दकी ओर दृष्टि नहीं है, कालरूपसे, मृत्युरूपसे, उन्हें आत्मसाक्षात् करना भी उसका ही अनुग्रह है, परन्तु अपना वास्तविक स्वरूप, स्वभाव, अमृत और आनन्द होनेके कारण हम उसे अनुग्रहके रूपमें ग्रहण करना नहीं चाहते।

विकर्षण यह कि हमारी ही भूलसे, अज्ञानसे प्रभुकी आनन्दमयी किरणोंका प्रकाश हमारे अनुभवमें नहीं आ रहा है। हम अमृत-सिन्धुमें, आनन्दकी अनन्त धारामें निवास करते हुए भी प्यासके कारण, अतृप्तिके कारण व्याकुल हो रहे हैं, छटपटा रहे हैं। परम प्रकाशको भी अन्धकार समझकर हम इधर-उधर टटोल रहे हैं। हम अपने गलेमें ही स्थित हारको भूलकर कस्तूरी-मृगकी तरह इधर-उधर भयानकतामें भ्रमण कर रहे हैं अपने ही स्वरूप— अन्तःस्थित प्रभु = वास्तविक स्वको छोड़कर अन्यत्र ढूँढनेको दौड़ लगा रहे हैं।

इन सब अनर्थोंका एकमात्र भेषज है 'श्रीमद्भागवताङ्क' जिसकी अनुभूतिसे, सङ्गसे, सेवासे यह भूल मिटकर प्रभुका चिदानन्दमय स्वरूप उपलब्ध हो सकनेकी आशा की जा सकती है।

भागवताङ्कका अर्थ है भगवान्‌की गोद और उनकी सन्निधि 'अङ्कः समीप उत्सङ्गे'। हम प्रतिपल चलते, बैठते, सोते उसीका अनुभव करें। चलते समय हमारी भावना हो प्रभुके अनन्त आनन्द पारावारकी एक सुधामयी तरङ्ग हैं। बैठनेके समय हमें ऐसा मालूम पड़ता रहे कि अखण्ड चित्स्वरूप प्रकाशके धागेमें पिरोये हुए हम एक मणि हैं। सोनेके समय हमारे अन्तस्तलकी वृत्तियाँ उसी अपार चिदानन्दमय प्रभुमें ही डूब जायँ। विषयोंकी प्रतीति और उनके द्वारा प्राप्त यत्किञ्चित् सुखमें भी हम अन्तरानन्दसे ही तृप्त हो रहे हैं, यह भावना-उपासना, प्रभुकी सच्ची आराधना चलती रहे।

यदि ऐसी भावना, जो कि वास्तविक और उनके अङ्क तथा सान्निध्यका अनुभव करनेको है, न चले तो भागवत अर्थात् भगवान्‌के भक्तोंका ही अङ्क सामीप्य प्राप्त हो। सर्वात्मना विषयी पुरुषोंका सङ्ग त्याग कर इन्हींका सङ्ग किया जाय। ये तो भगवान्‌के मूर्तिमान् विग्रह ही हैं। इनका सङ्ग दुर्लभ अगम्य और अमोघ है। ये मृत्युमय संसार-सागरसे परे पहुँचाकर अवश्य-अवश्य प्रभुकी आनन्दमयी गोदीमें बैठा देंगे।

परन्तु समयके प्रभावसे या हमारे दुर्भाग्य अथ च बहिर्मुखतासे सन्तोंका मिलना, उनका पहिचाना जाना भी इस समय असम्भव-सा है। वे ही कृपा करके हमारे सन्मुख अपनेको

प्रकट करें तो सम्भव है, हम कल्याणमय प्रभुको पानेका तत्परतासे यत्न करनेमें लग जायँ अन्यथा अपनी दुष्टताके फलस्वरूप हम उन विषयोंमें भी मृत्युमय संसारमें बद्ध होनेकी ही उत्तेजना प्राप्त करेंगे।

इसलिए आजकल श्रीमद्भागवताङ्ककी अर्थात् भगवान्के साक्षात् श्रीविग्रह भागवत-महापुराणकी शरण ही एकमात्र हम जीवोंके कल्याणके लिए स्वर्ण-सोपान रह गयी है। इस युगमें यही भगवान्की साकार मूर्त्ति है। सब धर्मोंके प्रतिष्ठास्वरूप होनेके कारण और धर्मोंका परित्याग करके अन्य धर्मोंकी अपेक्षा न करके एकमात्र इसी का आश्रय—शरण ग्रहण करनी चाहिए। वेदके, उपनिषद्के सार-तत्त्व अमृतत्वकी, ब्रह्मसूत्रके वास्तविक तात्पर्यकी, गायत्री और प्रणवके लक्ष्यार्थकी, तथा महावाक्योंके द्वारा सङ्कलित वस्तुकी सरल अनुभूति इसी भगवद्विग्रहकी उपासनासे इसीके अङ्कमें विश्वासके साथ पड़ जानेसे होगी। हम अज्ञानान्ध जीवोंके नेत्रपटल खोलनेके लिए श्रीप्रभुने यह विग्रह धारण किया है, इसीलिए श्रीभागवत-रूपी भुवनभास्करके रूपमें भगवान् प्रकट हुए हैं। इस युगमें इसके श्रवण, कीर्त्तन, स्मरण, पूजन और परिणामतः आत्मनिवेदनसे परमानन्दकी प्राप्ति होगी। इसीके पावन प्रसादसे शोक मोहप्रद अज्ञान भस्मसात् होगा। ज्ञान वैराग्यकी प्रतिष्ठा होगी। इसीके बलपर देवर्षि नारदने, जो कि भक्ति-मार्गके आचार्य हैं, घोर प्रतिज्ञा की है कि घर-घरमें, व्यक्ति-व्यक्तिमें भक्तिकी प्रतिष्ठा करूँगा। श्रीभागवत भगवान् दया करके हमें अपने अङ्कमें शरण दें कि यह जीवन उन्हींके पद-पद्मसुधारसका आस्वादन करते हुए व्यतीत हो।

श्रीमद्भागवतानन्दसुधाब्धौ रमतां सताम्।
पादारविन्दबिन्दूद-प्लावितः स्यां भवे भवे॥

जो देह-सो जगत्

वाराणसीमें वरुणा नदीके किनारे बैठकर एक महात्मा भेंटमें प्राप्त हुए एक लाख रुपयोंको एक-एक करके फेंक रहे थे—'यह रुपया यह मिट्टी। जो रुपया सो मिट्टी, जो मिट्टी-सो रुपया।'

इसी प्रकार तुम कहो—यह देह, यह जगत्। जो जगत् सो देह; जो देह सो जगत्। रुपया नहीं फेंक सकते तो उसे तिजोरीमें रहने दो और देहसे अपनी पृथक्ताका अनुसन्धान करो। (म० श्री०)

भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र और औपनिषद ब्रह्म

नित्यलीलालीन श्री हनुमान प्रसाद जी पोद्दार

१

पद्मयोनि, प्रपञ्चनिर्माता पितामहके नेत्रोंसे अश्रुके निर्झर झर रहे थे। व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्णचन्द्रके नवजलधर श्याम अङ्ग, अङ्गोंमें विद्युत्प्रभ पीताम्बर, कर्णयुगलमें गुञ्जानिर्मित अवतंस, चूडापर राजित मयूरपिच्छ, वक्षःस्थलपर वनमाला, हस्तपुटमें दधि-मिश्रित अन्नका ग्रास, काँखमें दबे हुए वेत्र एवं शृङ्ग, कटिफेंटमें खोंसी हुई मुरली, सुकोमल चरण-सरोज—इनकी शोभा, इनके आलोकमें वेद-उपनिषद्-ज्ञानके प्रथम अनुभवी उन आदि-ऋषि ब्रह्माका समस्त सञ्चित ज्ञान हतप्रभ हो चुका था। जिनके स्वरूपका साक्षात् वर्णन करनेमें श्रुतियाँ सर्वथा असमर्थ हैं, केवलमात्र स्वरूपसे अतिरिक्त वस्तुओंका निषेधमात्र करती हैं—

अस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घमलोहितमस्नेहमच्छायमतमोऽवाय्वनाकाशमसङ्गमरसमगन्धमचक्षुष्कमश्रोत्रमवागमनोऽतेजस्कमप्राणममुखममात्रमनन्तरमबाह्यम्।

(बृहदारण्यक० ३.८.८)

'वह न स्थूल है, न अणु है, न क्षुद्र है, न विशाल है, न अरुण है, न द्रव है, न छाया है, न तम है, न वायु है, न आकाश है, न सङ्ग है, न रस, है, न गन्ध है, न नेत्र है, न कर्ण है, न वाणी है, न मन है, न तेज है, न प्राण है, न मुख है, न माप है, उसमें न अन्तर है, न बाहर है।'

इस प्रकार अतद्वस्तुका निरसन करते-करते जहाँ जाकर वे परिसमाप्त हो जाती हैं; जिनमें अपने आपको खो बैठती हैं, जिनमें अपना अस्तित्व विलीन कर सफल हो जाती हैं—

···यच्छ्रुतयस्त्वयि हि फलन्त्यतन्निरसनेन भवन्निधनाः।

(श्रीमद्भागवत वेदस्तुति १०.८७.४१)

वे आज स्वयं ब्रह्माके सामने दृष्टिके विषय होकर खड़े थे। इतना ही नहीं; क्षणभर-पूर्व उनके अपने निर्निमेष नयनोंने देखा था—व्रजेन्द्रतनयके पार्श्ववर्ती वे समस्त गोवत्स, गोपशिशु, नव-नील-नीरद-वर्ण, पीतपट्टाम्बरपरिशोभित शङ्ख-चक्र-गदा-पद्म-करधारी, मणि-मुकुटधारी, मणिकुण्डल-मुक्ताहारशोभित, वनमाली चतुर्भुजके रूपमें परिणत हो गये थे। उनमेंसे प्रत्येक मूर्तिके वक्षःस्थलमें श्रीवत्स, भुजाओंमें अङ्गद, हाथोंमें रत्नमय वलय एवं कङ्कण,

चरणोंमें नूपुर एवं कड़े, कटिदेशमें करधनी, अङ्गुलियोंमें अङ्गुलीयक (अँगूठी) विराजित थी। अतिशय भाग्यशाली भक्तोंके द्वारा समर्पित नव-तुलसीकी मालायें नख-से-सिखपर्यन्त समस्त अङ्गोंमें आभरण बनी थीं; चन्द्रज्योत्स्ना-सी मन्द मुसकान अधरोंपर नृत्य कर रही थी। अरुणिम नेत्रोंकी चितवनसे मधु झर रहा था। अरुण नेत्र मानो रजके प्रतीक थे, भक्तोंके अन्तस्तलमें, क्षण-क्षणमें नव-नव मनोरथ (सेवा-वासना) का सृजन कर रहे थे और वह उज्ज्वल हास मानो सत्त्वका प्रतीक था, जो अधरोंपर नाच-नाचकर भक्तोंके मनोरथका पालन कर रहा था। फिर अगणित असंख्य ब्रह्मा वहाँ उपस्थित थे; ब्रह्मा ही नहीं, उनसे लेकर तृणपर्यन्त समस्त चराचर जीव मूर्तिमान् होकर उपस्थित थे और नृत्य-गीत-सहित यथायोग्य विविध उपहार समर्पित करते हुए उन अनन्त चतुर्भुज मूर्तियोंकी उपासना कर रहे थे। अणिमादि सिद्धियाँ, माया विद्या आदि विविध शक्तियाँ, महत्तत्त्व आदि चौबीस तत्त्वोंके अधिष्ठातृदेवता—सभी सेवाकी प्रतीक्षामें उन्हें घेरे खड़े थे। प्रकृति-क्षोभमें हेतु काल, प्रकृति-परिणाममें हेतु स्वभाव, वासनाका उद्बोधक संस्कार, काम, कर्म, गुण आदि—इन सबके अधिष्ठातृदेवता भगवद्रूपकी अर्चना कर रहे थे। भगवत्-प्रभावके समक्ष उन देवोंकी सत्तामहत्ता नगण्य बन चुकी थी। ब्रह्माने देखा—वे अगणित भगवद्रूप—ओह! सब-के-सब त्रिकालाबाधित सत्य हैं। ज्ञानस्वरूप—स्वप्रकाश हैं। अनन्त हैं। आनन्दस्वरूप हैं। एकरस हैं। इनके अचिन्त्य, अनन्त, माहात्म्यकी उपलब्धि तो उपनिषद्—आत्मज्ञानकी दृष्टि रखनेवाले पुरुषोंके लिए भी सम्भव नहीं।

सत्यज्ञानानन्तानन्दमात्रैकरसमूर्तयः ।
अस्पृष्टभूरिमाहात्म्या अपि ह्युपनिषद्दृशाम् ॥

(श्रीमद्भा० १०.१३.५४)

आज ब्रह्मा **सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म**[1] परब्रह्म सत्य है, ज्ञानस्वरूप है, अनन्तस्वरूप है, **विज्ञानमानन्दं ब्रह्म**[2] परब्रह्म विज्ञानस्वरूप है, आनन्दस्वरूप है, इन श्रुतियोंसे प्रतिपाद्य तत्त्वको प्रत्यक्ष देख चुके थे। जिन परब्रह्मात्मक गोपेशतनय श्रीकृष्णचन्द्रकी स्वप्रकाश-शक्तिसे यह परिदृश्यमान सचराचर विश्व प्रकाशित होता है, उनके नित्य पार्षद—गोपशिशुओंको, गोवत्सोंको ब्रह्माने आज उपर्युक्त रूपमें एक साथ एक समय देखा था।

एवं सकृद्ददर्शाजः परब्रह्मात्मनोऽखिलान् ।
यस्य भासा सर्वमिदं विभाति सचराचरम् ॥

(श्रीमद्भा० १०.१३.५५)

यह देखकर उनकी क्या दशा हुई थी, यह वे ही जानते थे। फिर तो उनकी दशासे करुणार्द्र हुए श्रीकृष्णचन्द्रने अपनी योगमायाकी यवनिका हटा दी थी और तब उन्होंने देखा था—वही वृन्दावन है, वहाँ ठीक पहलेकी भाँति अद्वय, अनन्त, ज्ञानस्वरूप परब्रह्म अपने प्रिय

---

१. तैत्तिरीय० २ १.१।

२. बृहदारण्यक० ३ ९.२८।

गोप-शिशुओंको, गोवत्सोंको ढूँढ़ता फिर रहा है, लीलारस-पानमें प्रमत्त है, दधिमिश्रित अन्नका ग्रास भी कर-कमलोंमें ठीक वैसे ही सुशोभित है।

तत्रोद्वहत्पशुपवंशशिशुत्वनाट्यं
ब्रह्माद्वयं परमनन्तमगाधबोधम्।
वत्सान् सखीनिव पुरा परितो विचिन्व-
देकं सपाणिकवलं परमेष्ठ्यचष्ट॥

(श्रीमद्भा० १०.१३.६१)

पितामह देखकर विह्वल हो गये। श्रीकृष्णचन्द्रको असंख्य प्रणाम कर चुकनेपर उन्हें कहीं धैर्य आया था। फिर भी आँखोंसे अनर्गल अश्रु-प्रवाह बह रहा था तथा अश्रुपूरित कण्ठसे वे व्रजेन्द्रनन्दन—नराकृति परब्रह्मका स्तवन कर रहे थे।

अन्तस्तलमें पश्चात्तापकी ज्वाला जल रही थी—'आह! कहाँ इतना क्षुद्र मैं, और कहाँ इतने महान् नन्दनन्दन श्रीकृष्णचन्द्र। मैं अपनी क्षुद्र मायासे इतने महान्को मोहित करने चला था। इस गुरु अपराधके लिए क्षमा कैसे मिलेगी?' पर नहीं, आशाकी एक किरण परमेष्ठीके अन्तस्तलमें सञ्चित एक श्रुतिने जगा दी।

यच्चास्येहास्ति यच्च नास्ति सर्वं तदस्मिन्समाहितम्।[१]

इस परब्रह्मका जो कुछ भी यहाँ है और जो कुछ भी नहीं है, वह सब सम्यक् प्रकारसे इसीमें स्थित है। वेदगर्भ आनन्दप्लुत होकर स्तुतिमें पुकार उठे—'अधोक्षज! शिशु अपनी जननीके गर्भमें रहता है, अज्ञानवश न जाने कितनी बार चरणोंसे प्रहार करता है; किन्तु माता क्या इससे रुष्ट होती है? फिर तुम्हीं बताओ श्रीकृष्णचन्द्र! 'है' और 'नहीं है' इन शब्दोंसे लक्षित कोई भी वस्तु तुम्हारी कुक्षि—उदरसे बाहर हैं क्या? अनन्त ब्रह्माण्ड, ब्रह्माण्डगत समस्त जीव-समुदाय, समस्त वस्तुएँ—सब कुछ तो तुम्हारे भीतर अवस्थित है। तुम्हारे किसी एक क्षुद्रतम देशमें अवस्थित प्राणीको तुम्हारी अनन्त महिमा, अनन्त स्वरूपका ज्ञान हो, यह भी कभी सम्भव है? तुम्हें न जानकर तुम्हारे प्रति जो कोई भी कुछ सोच लेगा, कर लेगा—वह अनुचित, अयथार्थ होनेपर तुम क्या रुष्ट हो जाओगे? नहीं, कदापि नहीं। अबोध शिशुकी भाँति ही, तुम्हारी महिमासे अनभिज्ञ रहकर मैंने यह अपराध किया है, तुम मुझे निश्चय क्षमा करोगे'—

उत्क्षेपणं गर्भगतस्य पादयोः किं कल्पते मातुरधोक्षजागसे।
किमस्तिनास्तिव्यपदेशभूषितं तवास्ति कुक्षेः कियदप्यनन्तः॥

(श्रीमद्भागवत १०.१४.१२)

विधाताने सारा वेदज्ञान लगा दिया था इस प्रयासमें कि कदाचित् किसी अंशमें व्रजेन्द्रनन्दनकी महिमाके क्षुद्रतम अंशको भी वे स्पर्श कर सकें। कहते-कहते वे श्रान्त नहीं होते

---

१. छान्दोग्योपनिषद् ८.१.३।

थे; किन्तु सहसा अब उनके चित्तमें व्रजवासियोंका स्फुरण हो आया। वे व्रजवासियोंकी महिमाका कीर्तन करने लगे—

अहो भाग्यमहो भाग्यं नन्दगोपव्रजौकसाम्।
यन्मित्रं परमानन्दं पूर्णं ब्रह्म सनातनम्॥

(श्रीमद्भा० १०.१४.३२)

'अहो! व्रजराज, व्रजवासी गोपोंका ही भाग्य धन्य है। वस्तुतः उनका ही अहोभाग्य है। परमानन्दस्वरूप सनातन परिपूर्ण ब्रह्म जिनका सुहृद्, मित्र, पुत्र,कलत्र, प्रियजन होकर रहे, उनके अनन्त असीम सौभाग्यका क्या कहना?'

फिर तो पितामहमें एक ही चाह बची थी और उसे पूर्ण करनेके लिए वे प्रार्थना कर रहे थे—

तद् भूरिभाग्यमिह जन्म किमप्यटव्यां
यद् गोकुलेऽपि कतमाङ्घ्रिरजोऽभिषेकम्।
यज्जीवितं तु निखिलं भगवान् मुकुन्द-
स्त्वद्यापि यत्पदरजः श्रुतिमृग्यमेव॥

(श्रीमद्भा० १०.१४.३४.)

'गोपेन्द्रतनय! अनादिकालसे अबतक श्रुतियाँ तुम्हारी चरणधूलिकी खोज कर रही हैं, किन्तु पा नहीं रही हैं। फिर साक्षात् तुम्हे कैसे पा सकेंगी? पर इन व्रजवासियोंने तुम्हें पा लिया। पाकर एकमात्र तुम्हें ही अपना जीवनसर्वस्व बनाया। अतः प्रभो! मेरे लिए परम सौभाग्यकी बात एक ही है। वह यह कि मनुष्यलोकमें और फिर वृन्दावनमें, और वहाँ भी नन्दगोकुलमें कीट, पतङ्ग, तृण, गुल्म आदिमेंसे कुछ भी होकर—किसी योनिका कुछ भी बनकर मेरा जन्म हो जाय तथा इन व्रजवासियोंमेंसे किसी एककी भी चरणधूलि-कणका स्पर्श पाकर मैं कृतार्थ हो जाऊँ, ब्रह्मपद मुझे नहीं चाहिए नाथ!'—

करहु मोहिं ब्रज-रेनु देहु वृंदावन बासा।
माँगौं यहै प्रसाद और मेरैं नहिं आसा॥
जोइ भावै सोई करहु तुम, लता सिला द्रुम, गेहु।
ग्वाल गाइ कौ भृत करो, मानि सत्य व्रत एहु॥
जो दरसन नर नाग अमर सुरपतिहुँ न पायौ।
खोजत जुग गए बीति अंत मोहूँ न लखायौ॥
इहिं ब्रज यह रस नित्य है, मैं अब समुझ्यौ आइ।
वृंदावन-रज ह्वै रहौं, ब्रह्म लोक न सुहाइ॥

जगद्विधाताने उन परब्रह्म श्रीकृष्णचन्द्रकी तीन परिक्रमा की और वे अपने धामकी ओर चल पड़े। यह है उपनिषत्-प्रतिपादित परब्रह्मकी एक झाँकी, जो एक बार वेदज्ञानके आदि-आचार्य, आदि ऋषि ब्रह्माको हुई थी।

एक बार देवर्षि नारदको भी परब्रह्मकी विचित्र ही झाँकी हुई थी। नन्दप्राङ्गणकी धूलिमें परब्रह्म लोट रहा था, एवं समीपमें खड़ी यशोदारानी हँस रही थीं। वीणाकी झंकार करते, हरिगुण गाते देवर्षि सौभाग्यसे वहीं जा पहुँचे। वहाँ जो कुछ देखा, उसपर न्यौछावर हो गये। बोल उठे—

किं ब्रूमस्त्वां यशोदे कति कति सुकृतक्षेत्रवृन्दानि पूर्वं
गत्वा कीदृग्विधानैः कति कति सुकृतान्यर्जितानि त्वयैव।
नो शक्रो न स्वयम्भूर्न च मदनरिपुर्यस्य लेभे प्रसादं
तत् पूर्णं ब्रह्म भूमौ विलुठति विलपत् क्रोडमारोढुकामम्॥

यशोदे! व्रजेश्वरी! तुम्हें क्या कहूँ, न जाने तुमने किन-किन पुण्यक्षेत्रोंमें जाकर किन-किन विधि-विधानोंसे कितने-कितने पुण्य सञ्चय किये हैं, जिसके फलस्वरूप तुम्हें यह अनुपम सौभाग्य प्राप्त हुआ। सुरेन्द्रने जिसके कृपाकटाक्षके दर्शन नहीं पाये, कमलयोनिने जिसकी कृपा नहीं पायी, मदनारि महादेवने जिसकी अनुभूति नहीं की, वह कृपा, वह प्रसाद तुम्हें मिला। ओह! वह पूर्णब्रह्म तुम्हारी गोदमें चढ़नेके लिए रो-रोकर पृथिवीपर लोट रहा है और तुम उसे उठा नहीं रही हो। तुम्हारे सौभाग्यकी यही तो चरम सीमा है व्रजरानी!'

अस्तु, ब्रह्मको क्रन्दन करते देखकर देवर्षिका रोम-रोम खिल उठा, हरिगुणके स्थानपर वे यशोदारानीका सुयश गाते चल पड़े।

लीलाशुकको भी एक झाँकी मिली। उन्होंने देखा—आगे-आगे परब्रह्म भागा जा रहा है, पीछे-पीछे गोपमहिषी श्रीयशोदा उसे पकड़नेके लिए, हाथमें छड़ी लेकर दौड़ी जा रही हैं। शुकने एक दृष्टि परब्रह्मकी ओर डाली और फिर परब्रह्मकी जननीकी ओर। परब्रह्म एवं जननीकी चालमें अन्तर अवश्य था; वह उस दौड़में आगे बढ़ रहा था, जननी श्रीअङ्गोंकी स्थूलताके कारण अस्त-व्यस्त होकर पीछे होती जा रही थीं—

जसु पै तैसें जाइ न जाइ, श्रोनी-भर अरु कोमल पाइ।
खसत जु सिर तें सुमन सुदेस, जनु चरनन पर रीझे केस।
आगे फूल की बरषा करैं, तिन पर ब्रजरानी पग धरैं।

पर इससे क्या हुआ। जननीने परब्रह्मके हाथ पकड़ ही लिये—

जोगीजन-मन जहाँ न जाहीं, इत सब बेद परे बिललाहीं॥
ताहि जसोमति पकरति भई, रहपट एक बदन पर दई॥

तथा फिर? उसे पकड़कर ऊखलसे बाँध दिया—

जद्यपि अस ईश्वर जगदीस, जाके बस बिधि, विष्णु, गिरीस॥
ताहि जसोमति बाँधति भई, रसना प्रेममई दिढ़ नई॥

× × × ×

जिन बाँध्यो सुर असुर नाग मुनि प्रबल कर्मकी डोरी।
सोइ अविच्छिन्न ब्रह्म जसुमति हठि बाँध्यो सकत न छोरी॥

× × × ×

निगम सार देखौ गोकुल हरि।
जाकौ दूरि दरस देवनिकौं, सो बाँध्यौ जसुमति ऊखल धरि॥

लीलाशुक इस झाँकीपर न्यौछावर हो गये। पुकार उठे—

परमिममुपदेशमाद्रियध्वं
निगमवनेषु नितान्तखेदखिन्नाः।
विचिनुत भवनेषु वल्लवीना-
मुपनिषदर्थमुलूखले निबद्धम्॥

'अरे, ओ ब्रह्मको ढूँढ़नेवालो! इधर सुनो, वेदान्त-वनमें परब्रह्मको ढूँढ़ते-ढूँढ़ते तुम उसे न पाकर दुःखसे अतिशय खिन्न हो रये हो। इधर आ जाओ, मैं तुम्हें परम उपदेश दे रहा हूँ, उसका आदर करो। सुनो। गोपसुन्दरियोंके भवनोंमें उसे ढूँढ़ो। यह देखो—यहाँ उपनिषद्का अर्थ उलूखलमें बँधा पड़ा है! इसे ढूँढ़ लो, पा लो।'

शुकका यह उपदेश अनन्त आकाशमें विलीन हो गया। पर नष्ट नहीं हो गया। उसके अक्षर-अक्षर वर्तमान हैं। इसलिए किसी श्रान्त पथिकने, परब्रह्मके अन्वेषणमें निराश हुए किसी मनीषीने इसे हठात् सुन लिया। इस ओर आया और उसे परब्रह्म मिल गये। आनन्दोन्मत्त हुए उसके प्राण गाने लगे—

निगमतरोः प्रतिशाखं
मृगितं मिलितं न तत्परं ब्रह्म।
मिलितं मिलितमिदानीं
गोपवधूटीपटाञ्चले नद्धम्॥

'ओह! कितना परिश्रम किया था, वेदान्त-वृक्षकी प्रत्येक शाखा ढूँढ़ ली थी, पर वह परब्रह्म तो नहीं ही मिला। पर देखो! देखो! मिल गया! मिल गया! अब मिला है, वह रहा, गोपसुन्दरीके अञ्चलसे संनद्ध होकर वह परब्रह्म अवस्थित है!'

एकने परब्रह्मकी अनुभूति ऐसे की थी—वह चित्सरोवरमें निमग्न हो चुका था। सहसा अनुभूति हुई—मैं हूँ, मेरी एक देह भी है, मन भी है, बुद्धि भी है, प्राण भी है। ये देह आदि तत्त्वतः क्या हैं? चिदानन्दसरोवरकी लहरें हैं, इतना ही कहना सम्भव है, वस्तुतः अचिन्त्य हैं, अतर्क्य हैं, अनिर्वचनीय हैं। अस्तु, उसने अनुभव किया—'हैं! मैं तो एक गोपसुन्दरी हूँ! ठीक, ये कौन हैं? मेरी सखियाँ हैं! और यह क्या है? उस गोपसुन्दरीने उस ओर देखा। देखते ही वह दृश्य नेत्रोंमें, प्राणोंमें समा गया। विक्षिप्त-सी हुई वह दौड़ चली। उसकी सखियाँ

उससे पूछ रही थीं, पर उसे वाह्यज्ञान नहीं था। बड़ी देरके पश्चात् वाह्यचेतनाका सञ्चार हुआ और वह वोलीं—

श्रृणु सखि ! कौतुकमेकं नन्दनिकेताङ्गने मया दृष्टम् ।
गोधूलिधूसराङ्गो नृत्यति वेदान्तसिद्धान्तः ॥

'री सखि ! सुन ! मैंने एक कौतुक देखा है। नन्दप्रासादके प्राङ्गणमें चली गयी थी। वहाँ देखा—अरे ! यहाँ तो वेदान्तका सिद्धान्त नृत्य कर रहा है ! आह बहिन ! और क्या वताऊँ ! नृत्यशील उस परब्रह्मके नवमेघश्यामल अङ्ग गोधूलिसे सन रहे थे, समस्त अङ्ग धूलिधूसरित थे। उस छविको कैसे वताऊँ !'

एक और भाग्यवान्ने नन्दभवनमें परब्रह्मको देखा था। वह तो लौटा नहीं। उसके प्राकृत शरीरके मन, प्राण, इन्द्रियोंमें उस अनुभूतिकी छाया पड़ी और वाणी वोल उठी—

श्रुतिमपरे स्मृतिमपरे भारतमपरे भजन्तु भवभीताः ।
अहमिह नन्दं वन्दे यस्यालिन्दे परं ब्रह्म ॥

'जो संसारके भयसे डरे हुए हों, वे भले ही कोई तो श्रुतिका, कोई स्मृतिका, कोई महाभारतका भजन करें। मैं तो नन्दवावाका भजन करता हूं, उन्हें प्रणाम करता हूँ जिनके अलिन्ददेश (द्वारके वाहरी चवूतरे) पर साक्षात् परब्रह्म विराजित हैं।'

उसीकी चित्तभूमिपर परब्रह्मकी एक और अभिनव झाँकीकी छाया पड़ी और वह गाने लगा—

कं प्रति कथयितुमीशे सम्प्रति को वा प्रतीतिमायातु ।
गोपतितनयाकुञ्जे गोपवधूटीविटं ब्रह्म ॥

'किससे जाकर कहूँ ? और कह देनेपर भी मेरी इस विचित्र अनुभूतिपर विश्वास ही कौन करने लगा; किन्तु मत करें, सत्य तो सत्य ही रहेगा। ओह ! मैंने देखा है—रविनन्दिनी श्रीयमुनाके पुलिनपर एक निकुञ्जमें एक गोपसुन्दरीके विशुद्ध प्रेमामृतके पानसे मत्त हुआ, रसलम्पट हुआ, परब्रह्म क्रीड़ामें संलग्न है।'

भक्त रसखानने भी परब्रह्मका अनुभव किया। आत्मविस्मृत हो गये। उस अनुभूतिका रस इतना मादक था कि वाणी नियन्त्रणमें न रही। बुद्धि विशुद्ध हो, इन्द्रियां संयमित हों, दिनचर्या परम सात्त्विक हो, विषय छूट गये हों, राग-द्वेषका अभाव हो गया हो, ब्रह्मकी ओर वृत्ति सदा एकतान लगी हो, उत्कट वैराग्य हो; अहङ्कार, बल, दर्प, काम, क्रोध, परिग्रह, ममतासे मन सर्वथा अलग हो गया हो, नित्य शान्तिकी धारा अन्तःकरणको प्लावित करती हो[1]—उसके सामने यह अनुभूति प्रकाशित करनेमें आपत्ति नहीं; किन्तु इससे पूर्व तो इस

१. वुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च। शब्दादीन्विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च ॥
विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः। ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः ॥
अहङ्कारं वलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम्। विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥
(गीता १८।५१-५३)

अनुभूतिको सुनकर कोई समझेगा ही नहीं, सुनना भी नहीं चाहेगा और कदाचित् सुनकर, दुर्बलतावश दुरुपयोग भी कर लेगा। पर 'रसखान' स्वयं तो कहते समय, मन-इन्द्रियोंसे सदाके लिए सम्बन्ध तोड़ चुके थे, अवश्य ही लोकदृष्टिमें ज्योंके-त्यों थे। किसीने पूछा उनसे परब्रह्मका पता और ब्रह्मरसमें निमग्न रसखानकी वाणी सरलतावश सङ्केत कर बैठी—

ब्रह्म मैं ढूँढ्यो पुरानन गानन, बेद रिचा सुनि चौगुनें चायन।
देख्यो सुन्यो कबहूँ न कितू, वह कैसे सरूप औ कैसे सुभायन॥
टेरत हेरत हारि पर्‌यो रसखानि, बतायो न लोग लुगायन।
देखो दुर्‌यो वह कुंज-कुटीरमें, बैठो पलोटत राधिका पायन॥

भक्त सूरदासकी ज्योतिहीन आँखोंमें भी परब्रह्मकी ज्योति जाग उठी और उन्होंने भी—

यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय।
तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्॥

(मुण्डक० ३.२.८)

'जिस प्रकार निरन्तर बहती हुई नदियाँ अपने नाम-रूपको त्यागकर समुद्रमें अस्त हो जाती हैं उसी प्रकार विद्वान् नाम-रूपसे मुक्त होकर परात्पर दिव्य पुरुषको प्राप्त हो जाता है।'

—ऐसा ही वर्णन अपने एक गीतमें सुनाया। वे गाने लगे—

जैसे सरिता मिली सिन्धुसों उलटि प्रवाह न आवे हो।
तैसे सूर कमल-मुख निरखत चित इत उत न डुलावे हो॥

× × × ×

सरिता निकट तड़ागके हो दीनों कूल बिदारि।
नाम मिट्यौ सरिता भई अब कौन निबेरे बारि॥

× × × ×

विधि भाजन ओछो रच्यो हो लीलासिंधु अपार।
उलटि मगन तामें भयौ अब कौन निकासनहार॥

परब्रह्मका वास्तविक पूर्ण अनुभव तो वहाँ ही है, जहाँ हमारा मन, हमारी इन्द्रियाँ मरें नहीं, अपितु उस चिदानन्द-रसका स्पर्श पाकर अमर हो जायें। परब्रह्म रसस्वरूप है, उस रसको पाकर ही पुरुष आनन्दका अनुभव करता है—

रसो वै सः। रस ᳪ ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति।

(तैत्तिरीय० २.७)

फिर वह किसीको मारे, यह सम्भव नहीं। यह सत्य है।

यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह। (तैत्तिरीय २.४)

इन्द्रियोंके सहित मन परब्रह्मको न पाकर लौट आता है; किन्तु यदि वह स्वयं मन-इन्द्रियोंमें उतर आवे तो उसे कौन रोक सकता है ? क्या उसपर भी कोई बन्धन है ? और वास्तवमें तो वह मिलता ही है उसे, जिसे वह स्वयं वरण करता है, वरण करके अपने स्वरूपको उसके प्रति अभिव्यक्त कर देता है—

यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूँस्वाम् ॥

(कठ० १.२.२३)

अतः यह तो वरण करनेवालेकी इच्छा है कि वह अपने किस स्वरूपमें किसका वरण करे। वह तो सर्वतन्त्रस्वतन्त्र है, श्रुतियोंकी सीमामें नहीं है। इसीलिए कभी-कभी वह मन-इन्द्रियोंमें भी अपना चिदानन्दमय रस भरकर वहाँ क्रीड़ा करने लग जाता है। नराकृति परब्रह्म श्रीकृष्णचन्द्रने तो यही किया। चाहनेवालेके मन-इन्द्रियोंमें भी वे अपना स्वरूपभूत रस देकर स्वयं उसका रस लेने लगे।

परम रस पायो ब्रजकी नारि।
जो रस ब्रह्मादिकको दुर्लभ सो रस दियो मुरारि ॥
दरसन सुख नयननको दीनों रसनाको गुन गान।
बचन सुनन श्रवननको दीनों बदन अधर-रस पान ॥
आलिंगन दीनो सब अंगन भुजन दियो भुजबंध।
दीनी चरन विविध गति रसकी नासाको सुख गंध ॥
दियो काम सुख भोग परमफल त्वचा रोम आनन्द।
ढिंग बैठिबो दियो नितंबन लै उछंग नँदनन्द ॥
मनको दियो सदा रस-भावन सुख-समूहकी खान।
रसिक-चरन-रज ब्रजयुवतिनकी अति दुर्लभ जिय जान ॥

ऐसे रसमय परब्रह्म नन्दनन्दन श्रीकृष्णचन्द्रसे चित्तवृत्तिका जुड़ जाना ही उपनिषद्के स्वाध्यायका फल है।

यही उपनिषद्-ज्ञानका मधुर परिणाम है। सच्ची बात तो यह है कि उपनिषद्की ज्ञानसरिताएँ जब प्रेम-समुद्रमें जाकर—उसमें घुल-मिलकर अपने पृथक् अस्तित्वको सर्वथा छिपा लेती हैं, तभी नित्य-नवीन, सौन्दर्य-माधुर्य-सुधा-रस-सिन्धु योगीन्द्र-मुनीन्द्र-परिसेवित-पादारविन्द परब्रह्म मदनमोहन व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्णचन्द्रके दिव्य नित्य चिदानन्दरसमय स्वरूप-साम्राज्यमें प्रवेशका पथ मिलता है। इस रस-साम्राज्यमें किञ्चित् प्रवेश पाकर किन्हीं एक परम विद्वान् महात्माने मुक्तकण्ठसे कहा था।

ध्यानाभ्यासवशीकृतेन मनसा तन्निर्गुणं निष्क्रियं
ज्योतिः किंचन योगिनो यदि परं पश्यन्ति पश्यन्तु ते।
अस्माकं तु तदेव लोचनचमत्काराय भूयाच्चिरं
कालिन्दीपुलिनोदरे किमपि यन्नीलं महो धावति ॥

वंशीविभूषितकरान्नवनीरदाभात्
पीताम्बरादरुणविम्बफलाधरोष्ठात् ।
पूर्णेन्दुसुन्दरमुखादरविन्दनेत्रात्
कृष्णात्परं किमपि तत्त्वमहं न जाने ॥[1]

'यदि योगीजन ध्यानके अभ्याससे वशमें किये हुए मनके द्वारा उस निर्गुण, निष्क्रिय एवं अनिर्वचनीय परम ज्योतिका दर्शन करते हैं तो वे करते रहें, हमारे नेत्रोंमें तो वह एकमात्र श्याममय प्रकाश ही चिरन्तन कालतक चमत्कार उत्पन्न करता रहे, जो कि श्रीयमुनाजीके उभय तटोंके भीतर इधर-उधर दौड़ाता फिरता है ।'

'जिसके दोनों हाथ बाँसुरी बजाते हुए शोभा पा रहे हैं, श्रीअङ्गोंकी कान्ति नूतन जलधरके समान श्याम है, शरीरपर पीताम्बर सुशोभित है, ओष्ठ पके हुए बिम्वाफलके समान लाल-लाल हैं, परम सुन्दर मुख पूर्ण चन्द्रमाके समान आनन्ददायक है और नेत्र विकसित कमलकी-सी शोभा धारण करते हैं, उस श्रीकृष्णसे बढ़कर या उससे परे किसी श्रेष्ठ तत्त्वको मैं नहीं जानता ।'

यही नहीं; श्रीकृष्णके प्रेम-साम्राज्यमें अन्तमें क्या दशा हो जाती है, एक अनुभवीकी वाणी सुनिए ।

अद्वैतवीथीपथिकैरुपास्याः स्वाराज्यसिंहासनलब्धदीक्षाः ।
शठेन केनापि वयं हठेन दासीकृता गोपवधूविटेन ॥

'अद्वैतकी वीथियोंमें विचरनेवाले पथिक (साधक) जिनको अपना उपास्य गुरुदेव मानते हैं तथा आत्मराज्यके सिंहासनपर जिनका अभिषेक हो चुका है; ऐसे होते हुए भी हमें गोपाङ्गनाओंसे प्रेम रखनेवाले किसी छलियेने हठपूर्वक अपना दास बना लिया है ।'

यह तो बड़ोंकी बातें हैं । हमारे-जैसे लोगोंकी तो एकमात्र यही आकाङ्क्षा होनी चाहिए कि हमारी चित्त-चकई भवसागरके तटसे उड़कर अनन्त पारावाररहित श्रीकृष्ण-रस-सिन्धुके तटपर अपना नित्य निवास बना ले, बस—

चकई री चल चरन-सरोवर जहँ नहिं प्रेम-वियोग ।
जहँ भ्रम-निसा होत नहिं कबहूँ सो सायर सुख-भोग ॥
सनक-से हंस, मीन सिव-मुनिजन, नख रविप्रभा प्रकास ।
प्रफुलित कमल निमिष नहिं ससि उर गुंजत निगम सुबास ॥
जेहि सर सुभग मुक्ति मुक्ताफल विमल सुकृत-जल पीजै ।
सो सर छाँड़ि कुबुद्धि बिहंगम इहाँ रहे कहा कीजै ॥
जहँ श्री सहस सहित हरि क्रीड़त सोभित सूरजदास ।
अब न सुहाय विषय-रस छीलर वह समुद्रकी आस ॥

•

[1] देखिये गीता मधुसूदनी टीकाअध्याय १३ और १५ की टीका ।

भगवद्गीताकी उपजीव्य

केनोपनिषद्

श्री शङ्करपाणि

★

केनोपनिषद् सामवेदीय तलवकार ब्राह्मणका नवां अध्याय है। इसे जैमिनीय उपनिषद और ब्राह्मणोपनिषद् भी कहते हैं। तलवकार ब्राह्मणके अस्तित्व पर कुछ पाश्चात्य विद्वानोंको सन्देह हो गया था। परन्तु डॉ० वर्नेलको जब कहींसे इसकी एक प्राचीन प्रति उपलब्ध हो गयी, तबसे पश्चिमी विद्वानोंके भी सन्देहका निवारण हो गया। इस उपनिषदका आरम्भ 'केन' इस प्रश्नवाचक पदसे हुआ है; इसीसे इसकी केनोपनिषद संज्ञा हुई। ठीक उसी तरह, जैसे 'ईशावास्यम्' से आरम्भ होनेके कारण यजुर्वेदीय चालीसवें अध्यायके मन्त्रभागको 'ईशावास्य' उपनिषद् कहते हैं। इस उपनिषद्का विशेष महत्त्व इस बातसे प्रकट होता है कि भाष्यकार श्री आद्य शङ्कराचार्यने इस पर 'पदभाष्य' और वाक्यभाष्यके नामसे दो भाष्य रचे हैं। पदभाष्यकी रचनाके अनन्तर वाक्यभाष्यका निर्माण क्यों आवश्यक समझा गया? इस प्रश्न पर प्रकाश डालते हुए टीकाकार आनन्द गिरि स्वामी लिखते हैं—'सामवेदीय शाखान्तर्गत ब्राह्मणोपनिषद्की पदशः व्याख्या करके भी भगवान् भाष्यकार सन्तुष्ट नहीं हुए; क्योंकि उसमें उसके अर्थका शारीरिक शास्त्रानुकूल युक्तियोंसे निर्णय नहीं किया गया था। अतः अब श्रुत्यर्थका निरुपण करनेवाले न्यायप्रधान वाक्योंसे व्याख्या करनेकी इच्छासे वे वाक्यभाष्य आरम्भ करते हैं।'

इस उपनिषद्में कुल चार खण्ड और ३४ मन्त्र हैं। प्रथम खण्डमें ८, द्वितीयमें ५, तृतीयमें १२ और चतुर्थ खण्डमें ९ मन्त्र हैं। प्रथम मन्त्रमें जिज्ञासु शिष्यका प्रश्न इस प्रकार है—

किसकी इच्छा या संकल्पसे प्रेरित हो यह मन अपने विषयों की ओर दौड़ पड़ता है। किससे संचालित हो सर्वश्रेष्ठ प्राण प्रगतिशील होता है; जगत्के मनुष्य किसकी इच्छाके अनुसार यह वाणी बोलते हैं और वह कौन-सा प्रसिद्ध देवता है जो नेत्रों और कानोंको उनके विषयोंकी ओर प्रेरित करता है? तात्पर्य यह कि सबका प्रेरक एवं संचालक कौन है? ॥ १ ॥

इस एक प्रश्नके विवेचनमें ही यह सम्पूर्ण उपनिषद् प्रवृत्त है। यही वह तत्त्व है, जिस एकका ज्ञान हो जानेपर सब कुछ ज्ञात हो जाता है। उक्त प्रश्नका उत्तर ज्ञानी गुरु द्वारा इस प्रकार दिया जाता है—

जो श्रोत्रका श्रोत्र (कानोंका कान), मनका मन और वाणीकी भी वाणी है, वही प्राणका भी प्राण तथा नेत्रका भी नेत्र है। उस सर्वप्रेरक (परमात्मतत्त्व) को जानकर धीर पुरुष संसारसे मुक्त हो इस लोकसे जाकर अमर हो जाते हैं ॥ २ ॥

हमारे शब्द-श्रवणके प्रति करण है श्रवणेन्द्रिय। किन्तु उसमें जो शब्दावभासकत्व है, वह स्वतः नहीं है; क्योंकि वह जड़ है। उसमें शब्द ग्रहण करानेकी शक्ति जहाँ से प्राप्त होती है, वही वास्तवमें श्रोत्र है, अतः यही कहना ठीक होगा कि चेतन आत्मा ही जड़ श्रोत्रेन्द्रियका श्रवण है। मनकी जो मनन-शक्ति और प्राणकी जो प्राणन-शक्ति है; वह सब परम पुरुष परमात्मासे प्राप्त होती है; अतः वही वास्तवमें मनका भी मन और प्राणोंका भी प्राण है। वाणीकी वर्णन-शक्ति और नेत्रोंकी दर्शन-शक्तिका स्रोत भी वही है। इसी उपनिषद्के सार-तत्त्वका दोहन करके भगवान् श्रीकृष्णने गीतामें कहा है—

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते।

मैं ही सबकी उत्पत्तिका कारण हूँ और मुझसे ही सबकी प्रवृत्ति होती है। तात्पर्य यह कि मैं ही सबका उत्पादक एवं प्रेरक हूँ।

परमात्मतत्त्व अज्ञेय तथा अनिर्वचनीय है—इसका प्रतिपादन करते हुए तीसरे मन्त्रमें कहा गया है—

उस परमात्मा तक न तो नेत्रकी गति है, न वाणीकी और न मनकी ही वहाँ तक पहुँच हो पाती है। शिष्यको ब्रह्म या परमात्मतत्त्वका उपदेश किस प्रकार किया जाय, जिससे वह समझ सके, वह प्रकार हम नहीं जानते, वह रीति हमारी समझमें नहीं आती है। अब तक जो कुछ ज्ञात हुआ है, उससे वह ज्ञातव्य ब्रह्म भिन्न है तथा वह अज्ञातसे भी परे है; यह बात हमसे उन पूर्ववर्ती महापुरुषोंने कहीं है, जिन्होंने उस परात्मतत्त्वकी व्याख्या की थी ॥ ३ ॥

जो वाणीसे कभी नहीं कहा गया, पर जिससे वाणी कही जाती या प्रकाशित होती है, उस चेतन तत्त्वको ही तुम ब्रह्म समझो। ये जगत्के प्राणी जिसकी उपासना करते हैं, वह देशकालावच्छिन्न वस्तु ब्रह्म नहीं है ॥ ४ ॥

जो मनसे नहीं मनन (संकल्प) करता, वल्कि जिससे मनका मनन किया गया है, उसीको तुम ब्रह्म समझो, लोग जिस परिच्छिन्न वस्तुकी उपासना करते है, वह ब्रह्म नहीं है ॥ ५ ॥

जिसे कोई नेत्रसे नहीं देखता, जिसकी ही सहायतासे लोग नेत्रकी वृत्तियोंका साक्षात्कार करते हैं, उसीको तुम ब्रह्म समझो। सामान्यतः लोग जिसकी उपासना करते हैं, वह ब्रह्म नहीं है ॥ ६ ॥

जिसे कोई श्रवणेन्द्रियसे नहीं सुनता, जिसकी सत्ता-स्फूर्तिसे ही श्रोत्रेन्द्रिय श्रवणका विषय बनती है, उसीको तुम ब्रह्म जानो, लोग जिसकी उपासना करते हैं, वह ब्रह्म नहीं है ॥ ७ ॥

जो घ्राणेन्द्रियके द्वारा गन्धयुक्त पदार्थोंका ग्रहण नहीं करता, जिसके द्वारा ही घ्राणेन्द्रिय अपने विषयोंकी ओर ले जायी जाती है, उसीको तुम ब्रह्म जानो, लोग जिस परिच्छिन्न वस्तुकी उपासना करते हैं, वह ब्रह्म नहीं है ॥ ८ ॥

अथवा प्राण शब्द यहाँ क्रियाशक्तिका बोधक है, जो उस प्राणके द्वारा प्राणन-क्रिया नहीं करता, अपितु जिस चैतन्यज्योतिके द्वारा प्राण ही प्रणीत अर्थात् प्रकाशित किया जाता है, वही ब्रह्म है—यह जानो। लोगोंद्वारा उपास्य परिच्छिन्न वस्तु ब्रह्म नहीं हैं। भगवान् श्रीकृष्णने इसी मन्त्रके भावके अनुसार गीतामें कहा है—

'क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत।'

क्षेत्रका स्वामी आत्मा या परमात्मा सम्पूर्ण क्षेत्रको आत्मज्योतिसे प्रकाशित करता है।

इस प्रकार प्रथम खण्डमें सर्वप्रेरक तथा सर्वातीत परब्रह्मकी ओर सुस्पष्ट संकेत करके श्रुति ब्रह्मज्ञानकी अनिर्वचनीयताका द्वितीय खण्डमें प्रतिपादन करती है।

गुरुदेव शिष्यसे कहते हैं—'सौम्य ! यदि तू ऐसा मानता है कि 'मैं ब्रह्मको भलीभाँति जानता हूँ, तो निश्चय ही तू ब्रह्मका थोड़ा-सा—आंशिक रूप ही जानता है। इसका जो रूप तुझे विदित है, अथवा जो रूप देवताओंमें विदित है, वह भी अल्प ही है। अतः अभी तेरे लिये ब्रह्मका स्वरूप विचारणीय ही है। (यह सुनकर शिष्यने एकान्तमें विचार किया फिर कहा—) अब मैं ऐसा मानता हूँ कि ब्रह्मका स्वरूप मुझे विदित हो गया ॥ १ ॥

इतना कहकर शिष्य जो अपना अनुभव बताता है, वही द्वितीय मन्त्रमें वर्णित हुआ है—

न तो मैं ऐसा मानता हूँ कि ब्रह्मको भलीभाँति जान गया और न ऐसा ही समझता हूँ कि नही जानता। अतः मैं उसे जानता भी हूँ और नहीं भी जानता हूँ। हमलोगोंमेंसे जो उसे ऐसा जानता है अर्थात् 'जानता हूँ और नहीं जानता हूँ' इन दोनोंसे—विदित और अविदितसे विलक्षण समझता है; वही वास्तवमें ब्रह्मको जानता है ॥ २ ॥

तीसरे मन्त्रमें श्रुति स्वयं ही गुरु-शिष्य-संवादका निष्कर्ष प्रस्तुत करती है—

जिसने समझ बूझकर यह मत स्थिर किया है कि ब्रह्म मुझे अज्ञात है, वास्तवमें ब्रह्म उसीको ज्ञात है। जो यह समझता है कि मैं ब्रह्मको जान गया हूँ, वस्तुतः वह ब्रह्मको नहीं जानता है। वह ब्रह्म जाननेका अभिमान रखनेवालोंके लिए अज्ञात है तथा जो ज्ञातापनके अभिमानसे शून्य हैं, उनको वह ब्रह्म भलीभाँति ज्ञात है ॥ ३ ॥

प्रत्येक बोध (बौद्ध प्रतीति) में जो अन्तर्यामी आत्मा रूपसे ज्ञात है, वही ब्रह्म है; क्योंकि उस ब्रह्मज्ञानसे मनुष्य अमृतत्व (मोक्ष) प्राप्त कर लेता है। अन्तर्यामी परमात्मासे उसको जाननेकी शक्ति (ज्ञानशक्ति) प्राप्त होती है और उस विद्या अथवा ज्ञानशक्तिसे अमृतत्व प्राप्त होता है। अथवा आत्मासे अमृतत्व प्राप्त होता है और विद्यासे अज्ञानान्धकारको निवृत्त करनेका सामर्थ्य उपलब्ध होआ है ॥ ४ ॥

अब पाँचवे मन्त्रमें यह बताते हैं कि आत्मज्ञान ही सार वस्तु है—

यदि इस जीवनमें ही ब्रह्मको जान लिया, तब तो ठीक है। यदि किसीने उसे इस जीवनमें नहीं जाना तब तो महान् विनाश है—बड़ी भारी हानि हैं। धीर पुरुष प्राणी-प्राणीमें उसकी स्थितिका अनुभव करके इस लोकसे प्रयाण करनेके पश्चात् अमर हो जाते हैं—परमात्माको प्राप्त कर लेते हैं ॥ ५ ॥

इस प्रकार ब्रह्मका स्वरूप और उसके ज्ञानकी महिमा बताकर तृतीय खण्डमें यक्षोपाख्यान द्वारा यह प्रतिपादित किया जाता है कि जगत्‌में जहाँ जो कुछ भी होता है, उसमें परब्रह्म परमात्माकी ही शक्ति काम करती है; लोग व्यर्थ ही अभिमान प्रकट करते हैं कि यह सब कुछ मैंने किया है अथवा मेरे द्वारा सम्पादित हुआ है।

परब्रह्म परमात्माने देवताओंके लिए असुरोंपर विजय प्राप्त की। यद्यपि यह विजय ब्रह्मकी ही थी, किन्तु देवता लोग इसमें अपनी महिमा मानने लगे ॥ १ ॥ वे ऐसा सोचने—विचारने लगे कि हमारी ही यह विजय है, हमारी ही यह महिमा है। परब्रह्म परमात्मा तो सर्वज्ञ ही ठहरे। वे जान गये कि देवतालोग मिथ्या अभिमान प्रकट करते हैं। उनका देवताओंके समक्ष एक तेजस्वी यक्षके रूपमें प्रादुर्भाव हुआ। परन्तु देवता यह नहीं जान सके कि वह यक्ष कौन है? ॥ २ ॥ देवता लोग अग्निदेवसे बोले—आप यह जाननेका प्रयत्न कीजिये कि वह यक्ष कौन है? ॥ ३ ॥ अग्निदेव उस यक्षके समीप दौड़े गये। यक्षने उनसे पूछा—'तुम कौन हो?' वे बोले—'निश्चय ही मैं अग्नि एवं जातवेदा हूँ ॥ ४ ॥ यक्षने पुनः पूछा—ऐसे प्रसिद्ध अग्नि एवं जातवेदा तुममें क्या बल या पराक्रम है?' अग्निने कहा—'इस भूमण्डलमें जो कुछ है, उस सबको मैं जलाकर भस्म कर सकता हूँ' ॥ ५ ॥

तब यक्षने उनके सामने एक तिनका रख दिया और कहा 'इसे जला दो।' अग्निदेवने सारा वेग—सारी शक्ति लगाकर उस तिनकेपर आक्रमण किया, किन्तु वे उसे जला न सके। तब वे (अहंकाररहित हो) वहाँसे लौट गये और देवताओंसे बोले—'मैं नहीं जान सका कि यह यक्ष कौन है?' ॥ ६ ॥

तब देवता लोग वायुसे बोले—'वायुदेव! आप ही पता लगाइये कि यह यक्ष कौन है?' ॥ ७ ॥ वायु देवता उसके पास गये। उसने उनसे पूछा—'तुम कौन हो?' वे बोले—'अवश्य ही मैं सुप्रसिद्ध वायु अथवा मातरिश्वा हूँ' ॥ ८ ॥ उसने प्रश्न किया—'तथाकथित आप वायु देवतामें क्या बल-पराक्रम है?' वायुने कहा—'यदि मैं चाहूं तो इस भूमण्डलमें जो कुछ भी है, सबको आकाशमें उड़ा सकता हूँ।' यक्षने उनके लिए एक तिनका रख दिया और कहा—'इसे उड़ाओ।' वायुदेव सारी शक्ति लगाकर उस तिनकेके पास गये किन्तु उसे उड़ानेमें समर्थ न हो सके। तब वे वहाँसे लौट गये और बोले—'देवताओं! मैं नहीं जान सका कि यह यक्ष कौन है?' ॥ १० ॥

तब देवता इन्द्रसे बोले—'मघवन्! आप पता लगाइये कि यह यक्ष कौन है?' इन्द्र 'बहुत अच्छा' कहकर उसके पास गये, किन्तु वह तत्काल अदृश्य हो गया ॥ ११ ॥

आकाशमें उसी स्थानपर, जहाँ यक्ष प्रकट हुआ था, एक अतिशय सुन्दरी स्त्रीमूर्ति आविर्भूत हो गयी, इन्द्र उसके पास आये। वह स्त्री साक्षात् हिमाचल-कुमारी उमा थीं, उनसे इन्द्रने पूछा—'माँ! वह दिव्य यक्ष कौन था?' ॥ १२ ॥

उमा देवीने इस प्रश्नका जो उत्तर दिया, वह उपनिषद्के चौथे खण्डमें वर्णित है।

उन भगवती उमा देवीने कहा—'उस यक्षके रूपमें साक्षात् परब्रह्म परमात्मा थे। असुरोंपर तुम्हें जो विजय मिली है, वह वास्तवमें तुम्हारी नहीं, परब्रह्मकी ही विजय है,

परन्तु तुमलोग अभिमानवश इसे अपनी महिमा मानने लगे थे।' उमाके इस कथनसे इन्द्रने निश्चयपूर्वक जाना कि 'वह ब्रह्म है' ॥ १ ॥

इसीलिए ये तीन देवता जो अग्नि, वायु और इन्द्रके नामसे प्रसिद्ध हैं, अन्य देवताओंकी अपेक्षा श्रेष्ठ माने जाते हैं, क्योंकि इन्होंने अत्यन्त निकटसे परब्रह्मका स्पर्श (दर्शन) प्राप्त किया। उन्होंने ही इस यक्षको सबसे पहले जाना कि 'यह साक्षात् परब्रह्म है' ॥ २ ॥

अतएव इन्द्र अन्य देवताओंकी अपेक्षा अतिशय श्रेष्ठ हैं; क्योंकि उन्होंने ब्रह्मका अत्यन्त निकटसे स्पर्श प्राप्त किया। वे ही उस यक्षके विषयमें सबसे पहले जान सके कि 'वह परब्रह्म परमेश्वर है' ॥ ३ ॥

उस ब्रह्मका यह आदेश—उपमानस्वरूप उपदेश है। (जिस उपमाके द्वारा निरूपम ब्रह्मका उपदेश किया जाता है, वह आदेश है)। अथवा आदेशका अर्थ है उपासनासम्बन्धी उपदेश। जो बिजलीके चमकनेके समान तथा पलक मारनेके समान प्रादुर्भूत हुआ, वह उस ब्रह्मका अधिदैवत रूप है ॥ ४ ॥

इसके अनन्तर अध्यात्म-उपासनाका उपदेश कहते हैं—यह मन जो जाता हुआ-सा प्रतीत होता है, वह ब्रह्म है—इस प्रकार उपासना करनी चाहिए। क्योंकि वह मानो ब्रह्मको ही विषय करता है। साधक इस मसके द्वारा जो ब्रह्मका बारंबार समीपसे स्मरण करता है, वह उसका अध्यात्म आदेश हैं। मनका सङ्कल्प भी ब्रह्मको ही विषय करनेवाला है। ब्रह्म मनरूप उपाधिवाला हैं। मनके संकल्प और स्मृति आदि प्रतीतियों द्वारा ब्रह्मकी ही अभिव्यक्ति होती है ॥ ९ ॥

वह ब्रह्म 'तद्वन' नामसे उपासनाके योग्य है। वह प्राणिसमूहका अन्तरात्मा होनेसे वननीय अर्थात् भजनीय हैं; इसलिए उसकी तद्वन संज्ञा है। जो उसे इस प्रकार जानता है, उसे सभी भूत अच्छी तरह चाहने लगते हैं ॥ ६ ॥

शिष्यने कहा 'गुरुदेव ! उपनिषद् कहिये।' गुरु बोले—'मैंने तुमसे उपनिषद्का ही कथन किया है। ब्रह्मविषयक उपनिषद् (विद्या) ही तुम्हें बतायी है' ॥ ७ ॥

अब विद्याप्राप्तिके साधन बताते हैं—

उक्त ब्राह्मी उपनिषद्की तप, दम, कर्म, वेद तथा सम्पूर्ण वेदाङ्ग प्रतिष्ठा हैं, एवं सत्य स्वरूप परमेश्वर आयतन (अधिष्ठान) हैं।

जो निश्चयपूर्वक इस उपनिषद्को इस प्रकार जानता है, वह पापको क्षीण करके अनन्त और महान् स्वर्गलोक (परमधाम) में प्रतिष्ठित होता है ॥ ९ ॥

व्रज-साहित्यमें बांसुरीका वर्णन

डॉ० भगवान सहाय पचौरी

★

चक्रसुदर्शन और पांचजन्य योगेश्वर कृष्णके विक्रान्त स्वरूपके प्रतीक हैं। बांसुरी उनके भुवनमोहन मधुर रूपको अजरामर बनाती है। भारतीय संस्कृतिमेंसे यदि श्रीकृष्णके माधुर्यको निकाल दिया जाय तो कुछ भी शेष नहीं रहता। उसमें यदि बांसुरीको छोड़ दें तो श्रीकृष्ण स्वयं ही हत-प्रभ रह जाते हैं। बांसुरी कितनी चमत्कारी है, भुवन-मोहनी है, कृष्णको कितनी प्रिय है, चराचरकी कितनी प्यारी है, कृष्णके साथ उसका कितना नित्य सम्बन्ध है, वह कौन कौनसे जादू कर सकती है? यह सब श्रीमद्भागवत-कालसे लेकर अबतक के हिन्दी साहित्यमें बार-बार वर्णित हुआ है। व्रज-साहित्यमें सूरदासने मुरली-माधुरीका बड़ा मनोहारी वर्णन किया है। परवर्ती कवियोंने जहाँ कृष्ण-जीवनके मधुर पक्षका अनेक रूपोंमें उद्घाटन किया है वहाँ उनकी चराचर-मोहनी बांसुरीके चमत्कारक प्रभाव भी सुरुचिपूर्वक वर्णित हैं। प्रधानतया अष्टछापके कवियोंसे हिन्दीमें बांसुरी-वर्णनकी परम्परा चलती है। मुरली, मुरलिका, वंसी बांसुरी आदि नामोंसे कवियोंने इसे सराहा है। भक्त कवियोंने प्रायः उपालम्भ-काव्यके रूपमें इसे गाया है। बांसुरीके साथ मुरलीधरका नित्य सम्बन्ध है। प्रतिक्षण प्रतिपल त्रिभङ्गी लालके अधरों पर यह शयन करती और सुधारसका पान करती रहती है। मुरलीधरकी दिव्य अंगुलियाँ इसके रन्ध्रोंपर नर्तन करती रहती हैं। इसके रोम-रोममें दिव्य सङ्गीत भरा हुआ है। यह कृष्णकी नित्य सहचरी और नित्य लीला-विहारिणी है। एक पलको भी यह कृष्णके होठोंसे अलग नहीं होती। यमुना-कूल-कछारोंमें, मधुवनकी बहारोंमें, लतागुल्म-कुंज-निकुंजोंकी डारोंमें, पात-पातमें, खेत-खलिहानोंमें, व्रजके सीमसिमानोमें रातमें, दिनमें, हर पल-छिनमें, रासमें, महारासमें, गोप-गोपी-हास-विलासमें, बांसुरीके स्वर अमृत उड़ेलते रहते हैं। एक तो वह संगीतप्राण है, दूसरे उसके बजानेवाले पूर्ण ब्रह्म-मधुर-अवतार, सब सारोंके सार, रास-विहारी, त्रयतापहारी, योगेश्वर, रासेश्वर श्रीकृष्ण स्वयं हो हैं; तो फिर कहने की क्या है, एकबार इसके स्वर गूँजे कि सोलह सहस्र गोपिकाएँ बावली, उतावली, मतवाली, दीवानी होकर कुल-कुटुम्ब-समाजकी समस्त मर्यादाओंको तोड़कर यमुना-कछारोंकी ओर दौड़ पड़ती हैं। वे स्वयं रासेश्वरसे भी नहीं रुकती। कृष्णके चारों ओर घन-घटाओं-सी छा जाती हैं गोपिकायें। शरद्-पूनोकी दिव्य शर्वरी धन्य हो उठती है। महारास में बांसुरीके स्वरोंकी गमकसे चर अचर और अचर चर हो जाते हैं। पूनोका चन्द्रमा गति भूल जाता है। प्रकृति स्तब्ध हो जाती है। छै मासकी रात हो जाती है, रास चलता रहता है। सारा संसार एक दिव्यानन्दसे झूम-झूम उठता है। गोपियोंके तो प्राणों पर ही आ बनती है, इस बांसुरीके कारण। तभी वे इससे असूया-डाह करने लगती है। हाय यह बांसुरी उनकी वैरिन बन गयी है। कृष्णके अधर-रस-पानका अवसर नहीं देती। स्वाधिन है बांसुरी। कृष्णको एक पैरसे खड़ा रखती है। पैर पलोटवाती है। बड़ा अधिकार जताती है। सूरके शब्दोंमें :

मुरली तऊ गोपलहिं भावति।
एक पैर ठाढ़ो करि राखति अति अधिकार जतावति।
सुन री सखी नन्दनन्दन को नाना नाच नचावति॥

इस वांसुरी निगोड़ी ने बड़ा उत्पात मचा रक्खा है, उधम उठा रक्खा है :

किती न गोकल कुल वधू किहि न काहि सिख दीन।
कौ ने तजी न कुलगली, ह्वै मुरली सुर लीन॥

ऐसी उत्पाती बांसुरी को चुरा ही क्यों न लिया जाय। न होगा वाँस, न वजेगी वाँसुरी। सारा झंझट ही मिट जायेगा। फिर देखें कृष्ण कितनी चिरौरियाँ करते हैं, हा हा खाते हैं। गोपियाँ वांसुरी छिपाती हैं, देने को कहती हैं, नहीं देती; ववाकी सौंह करती हैं। श्याम वस इसी प्रेमसे पराजित हैं। इसी प्रेम-व्यापारका चित्रण विहारी इस प्रकार करते हैं :

बतरस लालच लालकी मुरली धरी लुकाय।
सौंह करैं भौंहन हँसैं देन कहैं नट जाँय॥

वांसुरी फिर श्यामके अधरों पर जा गूँजती है। बड़ी हठीली, गर्वीली है। कविवर रसखानकी गोपी प्रतिज्ञा करती है कि कृष्णके रंगमें रंगी अन्य सभी कठिन कार्य करुँगी, परन्तु 'या मुरली मुरलीधर के अधरान धरी अधरा न धरौंगी।' इस घरी वांसुरीके उत्पातोंसे रसखान की व्रज-भट्ट लट्ट हो गयी है :

कौन ठगौरी करी हरि आजु बजाई है बांसुरी या रसभीनी।
तानि सुनी जिन हो जिनही तिनही तिन लाभ विदा कर दीनी॥
घूमे खरी खरी नन्दके द्वारन बीनी कहा अरु बाल प्रवीनी।
या व्रजमण्डलमें रसखान सो कौन भट्ट जो लट्टू नहि कीनी॥

वांसुरीके इसी जादूके स्रोतकी खोज करते हुए महाकवि ग्वाल हैरान हैं, उनका कथन है कि :

और विष जेते तेते प्राणके हरैया होत,
वंसीके कठेकी कभूं जाय ना लहर है।
सुनते ही एक संग रोम रोम रचि जाय
जोम जारि डारै पारै वेकली गहर है॥
ग्वाल कवि लाल तो सौं जोरि कर पूछत हौं
साँच कहि दीजो जो पै मोपर महर है।
बाँसमैं कि वेध मैं कि ओंठ मैं कि फूंक मैं कि—
आँगुरीकी दाब मैं कि धुन मैं जहर है॥

वांसुरी में अलौकिक सम्मोहन, उच्चाटन मारण और स्तम्भनका जादू भरा है।

इसकी धुनसे जगत्के सारे व्यापार रुक गये हैं। प्रातःकाल नहीं हो रहा है। ग्वाल उससे अनुनय करने लगे हैं। हा हा खाते हैं :

देख्यौ देख्यौ सबही सहूर तेरो उतपाती,
जाति है न राति बंसी नेक तो रहन दै।
तारन को वृन्द थक्यो चन्द मतिमन्द थक्यो
शिशुमार फन्द थक्यो मारग बहन दै।
ग्वाल कवि अब अरविन्दनकौ फूलन दै
मञ्जुल मलिंदन कौं मधु तौ लहन दै॥
हौन दै री हौन दै सवेरौ निरदई कान्ह
रई कौ चलन दै औ गैयन दुहन दै।

कविवर पद्माकर बांसुरीके विविध अभिनयको पहिचान गये हैं, वह कहते है कि—

वाही कै रँगी है रंग वाही कै पगी है मंग
वाही के लगी है संग आनँद-अगाधा कौ।
कहै पद्माकर न चाहत जिनैकु दृग-
तारन तैं न्यारो कियो एक पल आधा कौ॥
ताहू पै गोपाल कछु ऐसे खेल खेलत हैं
मान मोरिबे की देखिबे की करि साधा कौ।
ताहू पै चलाय चख प्रथम खिजावै फेरि
बांसुरी बजाय कै रिझाय लेत राधा कौ॥

कविवर देव बांसुरीकी औकातको ताड़कर कैसी खरी-खरी सुना रहे हैं। प्यादे से फरजी भयो टेढ़ो-टेढ़ो जाय, की सूक्ति वंसी पर चरितार्थ करते हुए वे कहते हैं—

अरी मुरलिके—

खोइ के सुवंस वंसी ऐसे इक ध्वनि दिन,
मारी फिरी ऐसे ही कुछेक दिन नागी रे।
छेद करवाइ निज छाती मैं छ सात भई
कारीगर हाथन अनेक विधि दागी री॥
ताही मनमोहन किते दिन तै राखि संघ
द्विज देवकी सौं है सुराग अनुरागी री।
ढीठ ह्वैके क्यों न व्रज-बालन सतावै सोई
बांसुरी सुन्यों मैं अब हरि मुख लागी री॥

कविवर नन्दरामकी गोपिका शृङ्गार कर रही थी कि बांसुरी बज उठी। फिर जो हुआ नन्दराम जी से सुनिये—

बैठी मृगनैनी खोल बैनी सुखदैनी ऐन
सजन सिंगार लागी अङ्गना दिवारी मैं।
नन्दराम तौलौं मनमोहन विहारी कहूँ
मधुर बजाई फूँकि बांसुरी कि यारी मैं॥

खटकी करेजे तान अटकी अनोखे नेह
चटकी चली द्वै ताल पटकी पछारी मैं।
सेज गिरी जैहर अँगूठी देहरी के द्वार
मारग में बाजू-वंद बाँक फुलवारी मैं॥

भुवनेश कवि वांसुरी वजाते हुए दिव्य वेशको पहचाननेकी इन शब्दोंसे चेष्टा कर रहे हैं—

पीत पढ़ी कटि पै लपटी छुटै कुंचित केश विराजत चन्दन,
राज रह्यौ गर में गजरा गज गौहर को छलके छवि छन्दन।
त्यों भुवनेस अली विधिसौं सु-वजावत बांसुरी आनन्द-कन्दन,
कौन है या अवलोक अली चले आवत हैं गति मत्त गयन्दन॥

हफीजुल्ला खाँ हाफिज सखी रूप में वंसीकी धुन सुनकर दीवाने हो रहे हैं। प्रसिद्ध मणि-प्रवल-शैलीमें वे कहते हैं—

वंसी बजी वलवे जमुना चलो चलियौ सखी सव मिलके बहम।
ताल वंसी चू नक्शे नगीं अब चैन नहीं क्षन पल व बिलम्॥
शर्मो हया कुल की तजि कैं कर लौ दर्शन चलि मिजदै सनम।
हाफिज हाथ सों हाथ मिलाय कै शीत कौ हिरदम हम तुम॥

कविवर दीनदयालने भी मुरलीकी गूँज सुनी-कि सुनके ही रह गये—

कहुँ काह अली रस राशि रली मुरली मधुरा घर बाजति है।
हरि बोलन मोलन ले चितको चल कुण्डल डोलनि छाजति है॥
वह दीनदयाल विसाल प्रभा अजहूँ मन मन्दिर राजति है।
लखि मोहिनी मूरत कौं अतिसै रति के पति की द्युति लाजति है॥

गिरधारी कविने वंशीके प्रभावको इन शब्दोंमें व्यक्त किया है—

कुञ्जन में वांसुरी बजाई नन्द नन्दन जू
धुनि सुनि सबके हिये को होश हरिगो।
कहै गिरधारी कुल नारिन की भीर भई
निपट अधीर पै न धीर नैकु करिगो॥
विकसी कली सी चलि निकसी निकेतन ते
नहीं व्रत नैम को विचार कदूकरिगो।
लाज कौ रसाला तजि दौरी व्रजवाला सब
आजु कुलमाला को दिवाला-सौ निकरिगो॥

एक अन्य रसिक कवि मुरलीके उत्पातसे इस प्रकार वेचैन दिखायी दे रहे हैं—

बाजी हती मन मोहन कै मुख ता दिन तै मन मोह लई है।
घायल सी घुमरों घरमें अह वादिन ते मेरी सुद्धि गयी है॥
कासौं पुकारि कहौ सजनी सिगरे ब्रज में वे पीर भई है।
यह बाँसको नास करौं छिनहीजिहि बाँस की वासुरी गाज वई है॥

जनमानसमें राधाकृष्ण रम रहें हैं—

श्रीकृष्ण और लोक जीवन

प्रो० श्री शर्मनलाल अग्रवाल एडवोकेट

*

भगवान् श्रीकृष्ण और व्रजभूमि जैसे एक ही रूपके दो नाम हैं। कृष्णके बिना व्रज-भूमिके स्वरूपकी कल्पना नहीं की जा सकती और व्रजके बिना कृष्णके स्वरूपका भी दर्शन नहीं हो सकता। वे व्रजके कण-कणमें व्याप्त हैं। व्रजकी वाणी कृष्णके स्वरोंमें ही बोलती है, व्रजका हृदय उन्हींके श्वासोंसे स्पंदित होता है, एवं व्रजका लोकजीवन उन्हींके द्वारा पूर्णतः प्रभावित देखा जाता है।

वृन्दावन सौं वन नहीं, नन्द गांव सौं गांव।
वंसीबट सौं बट नहीं, कृष्ण नाव सौं नांव॥

श्रीकृष्णने लोकजीवनको इतना अधिक प्रभावित किया, उसका कारण बिल्कुल स्पष्ट है। एक गोप-परिवारमें उनका जन्म हुआ, ग्रामीण वातावरणमें ही वे पले, ग्वाल-बाल उनके साथी हुए, बिना किसी भेदभावके उनके साथ ही खेले कूदे। व्रजके वन-उपवनोंमें ही गाय चराते हुए वे दिनभर भटके।

भोर भयो गैयनके पाछें मधुवन मोहि पठायौ।
चार पहर बंशीवट भटक्यौ, साँझ परे घर आयौ॥

व्रज-गोपिकाओंके साथ ही अनेक लीलाएँ कीं, अनेक उत्सव और पर्व मनाये। गोपोंके साथ अनेक दैत्योंका संहार कर व्रजकी रक्षा की और जब व्रजको छोड़कर चले गये तो व्रजके लोकजीवनमें उतने ही अधिक समा गये। माता यशोदाके नेत्र उनकी प्रतीक्षामें पथरा गये।

मात जसोदा पंथ निहारे प्रतिदिन साँझ सकारे।
जो कोउ स्याम-स्याम कहि बोलत अंखियन बहत पनारे॥

व्रज-गोपिकाएँ और ग्वालबाल मथुराके मार्गकी ओर दृष्टि लगाये देखते रहे, गायें रँभाती रहीं, लता-पता उनके विरहमें सूखती रहीं और विरहिणी यमुना श्याम-विरहमें श्याम होकर व्रजकी अश्रुधाराके रूपमें प्रवाहित होती रही, एवम् आज भी बह रही हैं।

आज भी व्रजके एक छोरसे दूसरे छोर तक इसका स्पष्ट प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। व्रज राधाकृष्णमय है और व्रजके इस प्रभावने देशके लोक-मानसको राधाकृष्णमय बना दिया है। हमारा दैनिक जीवन, धार्मिक आस्था, दार्शनिक दृष्टिकोण, मनोविनोद, उत्सव, पर्व, संगीत कला सभी कुछ श्रीकृष्णसे अनुप्राणित हैं। व्रजप्रदेशके बाहरके लोकजीवनको भी श्रीकृष्णने बहुत ही अधिक प्रभावित किया। भारतके उत्तराखण्डमें स्थित वे पहाड़ी प्रदेशोंके लोकगीत भी कृष्णकी लीलाओंसे गूँजते हैं :—

जा मेरा कान्हा भैंसिय दुहाल, हे मेरा गौं को पैंडात सुण्याल।
ढूँढ़ड़ कूँ बुलादी त्वे थैं गुपाल, जा मेरा कान्हा भैंसिय दुहाल॥

ओ मेरे लाड़ले कन्हैया! भैंसोंको दुहले, हे मेरे प्यारे गोपाल गायोंका रंभाना सुन, वे तुझे जगानेके लिए उत्सुक हैं। वे तुम्हें बुला रही हैं। इस गीतकी अगली पंक्तियोंका भाव है। मेरे दुलारे दही बिलोकर छाछ तैयार करली है, जल्दी ही बँधी भेड़ोंको छानीसे बाहर कर दो, बड़ी देर हो गयी है, जल्दीसे माखन खालो। गौरक्षक गोपाल-छौहरे वन चलनेको जल्दी गुहार कर रहे हैं। चलो भय्या कृष्ण! मुरली साथ रख लो, कम्बल पहन लो, लकुट भी ले लो, गोपी तुम्हारी ताकमें छिपी हुई हैं, उन्हें भी देख लो।

गुजरातके लोकजीवनमें कृष्ण और उनकी वंसीके स्वर निरन्तर ही गूंजते हैं :—

वंसीवाला आजो म्हारा देश।
आजो म्हारा देस, हो वंसी वाला आजो म्हारा देस॥
थारी साँवली सूरत हृदय बसै, वंसीवाला आजो म्हारा देस॥
आवन, आवन कह गये, कर गये कौल अनेक—
गणतां-गणतां घिस गई जीमां म्हारी आंगलिया नी रेख,
एक बन ढूँढ़ी, सकल वन ढूँढ़ी, ढूँढ़ौं सारी देस।
थारे कारन जोगिन हूँगी, करूँगी भगवां भेस॥

व्रज लोकमानस और लोकजीवनकी सारी स्थितियाँ कृष्ण-जीवन और उनकी लीलाओंकी ललित कहानी है। प्रातःकालकी बेला है, नारियाँ स्नान-यात्रापर जा रही हैं, गीतोंके स्वर फूट पड़ते हैं:—

हरिजूके संग राधा चों न गई जी,
जब रथ हाँक दियौ मथुरा जी कूँ, चलिवे की बिरियाँ राधा सोइ गई जी।
जब रथ हाँक दियौ द्वारका कूँ, चलिवेकी विरियाँ राधा सोइ गई जी।

'जो सोवत है सो खोवत है।' राधाको इस सोनेका मूल्य जीवनभर अपने आँसुओंसे चुकाना पड़ा। संध्याके समय दर्शनके लिए जाती हुई नारियोंके कण्ठ समस्त वातावरणको गुंजित कर देते हैं :—

सखि री चलौं तौ दर्शन कर आवें।
रोपयो-रोपयो रे नन्द के नै रास।
कौन बरन रानी राधिका, अरी कौन बरन घनश्याम।
गौर बरन रानी रधिका अरु श्याम बरन घनश्याम॥
सखि री चलौं तो दर्शन कर आवें॥

इन गीतोंमें आज भी कृष्णके लिए निमन्त्रण होता है। दही माखन खिलानेका प्रलोभन दिया जाता है :

कान्हा बरसानेमें आ जइयो, बुलाय गयी राधा प्यारी।
कोरी सी हड़ियाँमें दही जमायौ, गरज पड़ै तौ खा जइयो॥
बुलाय गयी राधा प्यारी, पतरी-पतरी पोई है फुलकियाँ।
गरज पड़ै तौ जैं जइयो बुलाय गयी राधा प्यारी॥

व्रजके गाँवोंमें, चौपालोंपर, मन्दिरोंपर, घाटोंपर सुवह और शाम कृष्ण-सम्बन्धी भजन और कीर्तन, कथा, सत्संग सुनायी पड़ते हैं। समय-समयपर होनेवाली रासलीलाओंमें विशुद्ध रूपसे कृष्णकी ही झांकी होती है।

पारिवारिक जीवनके संस्कारोंमें कृष्णके नामने वड़ा महत्त्वपूर्ण प्रभाव डाला है। सगाई तथा लग्नके समय गाये जानेवाले गीतोंमें इसकी झलक मिलती है :

हाथ डंडा, मुख बांसुरी, औरु खेलत पैं चौहांन मनोहर सांमरे।
घर आऔ न लाल लड़ैते, लगुनाइत उबेंहार मनोहर सांमरे॥
कटि पीताम्बर खुलि वनौ, औरु भोजाऔं लैं लेई मनोहर सांमरे।
लला, ब्याहि बहुअ लै आइऐ, औ फूली अंग न समाइ मनोहर सांमरे॥

लोकगीतोंके अतिरिक्त सन्त और भक्तों द्वारा रचिन साहित्यमें कृष्ण-जीवनकी वड़ी अमिट छाप है। व्रजके वन, उपवन, नदी, पर्वत सभी श्रीकृष्णकी लीला-भूमि रहे हैं।

इसी प्रकार व्रजवासी व्रजभूमिको छोड़कर वैकुण्ठ जानेकी भी कामना नहीं करते।

कहा करौं वैकुठे जाइ।
जहाँ नहीं वंसीवट, जमुना, गिरि गोवर्धन नन्दकी गाइ॥
जहाँ नहीं ए कुंजलता, द्रुम मंद सुगन्ध बाजत नहि गाइ।
कोकिल मोर हंस नहि कूजत ताको वसिवो कहा सुहाइ॥
जहाँ नहीं बंसी धुनि बाजत कृष्ण न पुरवत अधर लगाइ।
प्रेम पुलक रोमांच न उपजत मन क्रम वच आवत नहीं दाइ॥
जहाँ नहीं ए भुव बृंदावन वावा नन्द जसोमति माइ।
गोविंद प्र तजि भुनन्द-सुवन को व्रज तजि वहाँ वसत बलाइ॥

व्रजके भोजन दही, दूध, माखन, मिश्री, मलाई, मेवा आदिका महत्व भी केवल कृष्णके नामके कारण है।

'सीतल माखन' मेल 'मिश्री कर' सीरा लाल खवाऊंगी।
औंट्यौ दूध सद्द धौरी को सीयरो करिकै प्याऊंगी॥

× × × ×

उठो लाल तुम करो कलेऊ, कान्ह कुंवर तोहि टेरि बुलावे।
'माखन मिश्री दही मलाई,' भांट थार भरि संग चलावै॥

साहित्यके अतिरिक्त व्रजकी कलाएँ श्रीकृष्णसे बहुत ही अधिक प्रभावित हैं। इस प्रदेशके अधिकांश मन्दिर राधा और कृष्णकी ही झाँकियां दिखाते हैं, एवं उन्हींके गीतोंसे गूँजते हैं। व्रजके प्राचीन स्थलोंकी खुदाईके समय अनेक महत्त्वपूर्ण मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं, जिनमें नवजात शिशु कृष्णको एक सूपमें रखकर वसुदेव गोकुल ले जानेके लिए यमुना पार करते हुए दिखाये गये हैं। एक दूसरी मूर्तिमें वे अपने हाथपर गोवर्धन पर्वत उठाये हुए चित्रित हैं, पर्वतके नीचे गाय तथा ग्वालवाल खड़े हैं। एक मूर्तिमें वे कालिय-नागका दमन कर रहे हैं। मन्दिरोंमें भित्तियोंपर राधाकृष्णकी लीलाओंका बड़ा सुन्दर चित्रण हुआ है। गोवर्धनकी विशाल छतरीमें कृष्णकी रास आदि विविध लीलाएँ युद्ध तथा लोकजीवनके दृश्य विशेषरूपसे उल्लेखनीय हैं। परासौलीमें सूरकुटीके निकट उज्जैन निवासी श्री खेमजीकी हवेलीमें भीतपर जो कई सुन्दर चित्र अंकित हैं, एकमें रासलीलाका दृश्य है, दूसरेमें गोचारण लीला है, एक अन्य चित्रमें कृष्ण तन्मय भावसे वंशी बजा रहे हैं। सांझी कलामें भी सूखे रंगोंकी सहायतासे राधाकृष्णकी लीलाएँ अंकित की जाती हैं। इस प्रकार समस्त लोकजीवन ही कृष्णमय है, और चिरकाल तक रहेगा।

●

धन्य देश-काल, वस्तु

वह देश धन्य है, जिसके कण-कणमें श्रीकृष्ण मधुराति मधुर पावन स्मृति व्याप्त है। वह काल धन्य है, जिसमें श्रीकृष्णका चिन्तन-भजन अनायास होता है। वह वस्तु धन्य है, जो श्रीकृष्णकी सेवामें सादर अर्पित हो। श्रीकृष्णके उपयोगमें आकर उनका पावन प्रसाद बन गयी हो।

●

भगवान् श्रीकृष्णका जन्मस्थान कंसका कारागृह था या कंसका महल ?

श्री जयदयालजी डालमियाँ

☆

[यह प्रश्न विचारणीय है । आचार्य पं० श्री सीताराम चतुर्वेदीने यह मत स्थापित किया है कि श्रीकृष्णका जन्म कंसके महलमें हुआ था, न कि कारागार में ! इसके विपरीत श्री डालमियाँजीने यह मत व्यक्त किया है कि श्रीकृष्णका जन्मस्थान कंसका कारागार ही था, उसका महल नहीं । विभिन्न पुराणोंके वर्णनसे ये दोनों ही बातें प्रतिपादित होती हैं । सब वचनोंकी एकवाक्यता हो और एक ही निश्चित मतका प्रतिपादन सम्भव हो सके—इसके लिए इस विषय पर पुनर्विचार आवश्यक है । पुराणवेत्ता विद्वानोंसे अनुरोध है कि वे इस विषयमें विचारपूर्ण युक्तिसंगत लेख भेजें । हम उन्हें सादर प्रकाशित करेंगे ।]—सम्पादक

'श्रीकृष्ण-सन्देश' वर्ष–६ अंक–६, जनवरी १९७१ के पृष्ठ २६–२९ पर आचार्य श्री सीतारामजी चतुर्वेदीका—'श्रीकृष्णजन्म स्थान कंसका कारागार नहीं, महल था—क्या भगवान् श्रीकृष्णका जन्म कारागारमें हुआ था ? शीर्षक लेख प्रकाशित हुआ था ।

लेखक श्री आचार्यजीने श्रीमद्भागवत १०।१।६६ के 'निगृह्य निगडैः गृहे' में 'निगृह्य निगड़ैः' का लाक्षणिक अर्थ 'कड़े पहरेमें' किया है और लिखा है कि वाच्यार्थ भी ग्रहण किया जाय तो अर्थ होगा 'वेडी डालकर' । 'गृहे' का स्पष्ट अर्थ 'घरमें' करके उन्होंने लिखा है कि कारागार अर्थ किसी प्रकार सिद्ध नहीं होता । कारा + आगार; कारा + गृह । 'कारा' दोनोंमें समान है और 'आगार' एवं 'गृह' पर्यायवाची हैं । 'कारा' का अर्थ 'दण्ड देने योग्य' है । 'दण्ड देने योग्य गृह' ही 'कारागार' कहलाता है । 'निगृह्य निगड़ैः'का सरल वाच्यार्थ 'वेड़ी डालकर' को छोड़कर क्लिष्ट लाक्षणिक अर्थ 'कड़े पहरेमें' क्यों लिया जाय ? 'शब्दकल्पद्रुम' संस्कृत कोषमें 'निगड़ः' शब्दका अर्थ 'हाथीके पैर बाँधनेकी लोहेकी जंजीर' बताया है । वेड़ी डालकर रखना दण्ड देनेके लिए होता है न कि पुरस्कार देकर सम्मानित करनेके लिए । कहीं भी उदाहरण नहीं मिलता कि किसीको वेड़ी डालकर किसी शासकने अपने महलमें या दण्डच व्यक्तिके अपने निजी घरमें रक्खा हो । यदि कोई भी ऐसा उदाहरण नहीं मिलता तो फिर देवकी-वसुदेवके लिए यह कल्पना क्यों की जाय कि वेड़ी डालकर उन्हें कंसने अपने महलमें

रखनेकी या उनको अपने स्वयंके निजी घरमें रहने देनेकी कृपा दर्शायो थी। जो कंस अपने पिता उग्रसेनको हथकड़ी-वेड़ी डालकर रख सकता है उसके लिए 'निगृह्य निगडै:' के अर्थमें यह कल्पना करना कि उसने देवकी—वसुदेवको वेड़ी डालकर जेलमें नहीं रखा बल्कि केवल कड़े पहरेकी निगरानीमें अपने स्वयंके महलमें या उनके निजी निवासमें रक्खा—कहाँ तक युक्ति-संगत होगा, इस पर लेखक महोदय एवं पाठकगण पुनः विचार करें।

आगे जाकर लेखक महोदय श्रीमद्भागवत १०।२।१९ का अर्थ करते हैं—

> यद्यपि सम्पूर्ण जगत्के निवास-स्थान भगवान्ने देवकीमें अपना निवासस्थान बना लिया था, तथापि जैसे चारों ओरसे वन्द आगकी लपटका और दूसरेको विद्या न देनेवाले (ज्ञानखल) की विद्याका प्रकाश नहीं फैलता, वैसे ही कंसके भवनमें (भोजेन्द्रगेहे—कारागारमें नहीं) देवकीकी शोमा भी बाहर न फैल पायी।

इसमें 'भोजेन्द्रगेहे' का अर्थ 'कंसके भवनमें' किया गया है। पूर्वापर प्रसंग (श्रीमद्भागवत १०.१.६६) के अनुसार इसका उचित अर्थ होना चाहिए। भोजेन्द्र कंसकी मथुरा नगरीमें दण्ड देनेके लिए निर्मित 'कारागृह—भवन' में। इसी प्रकारका श्रीमद्भागवत १०.२.२० में भी 'भवन' शव्दका अर्थ होना चाहिए।

यहाँपर श्रीआचार्यजी लिखते हैं कि 'भोजेन्द्रगेहे' (कंसके घरमें) और 'भवन' शब्द स्पष्ट उद्घोष कर रहे हैं कि कंसने देवकीको अपने राजभवनमें ही दृष्टिवद्ध (नजरवन्द) कर रक्खा था कि वे कभी आँखसे ओझल न हों। शास्त्रोंमें या प्रचलित व्यवहारमें कहीं भी ऐसा देखने-सुननेमें नहीं आया कि नजरवन्द कैदीको 'निगृह्य निगड़ै:' वेड़ी डालकर रक्खा जाय। नजरवन्द कैदीको निर्दिष्ट स्थानकी सीमाके भीतर स्वतन्त्रतापूर्वक, वह चाहे जिस तरह, रहनेकी छूट होती है, लेकिन अधिकारियोंकी दृष्टिके वाहर किसी वाहरी व्यक्तिसे सम्पर्क बनानेकी छूट नहीं होती।

आगे जाकर लेखक महोदयने श्रीमद्भागवत १०.३.४७ के 'सूतिकागृहात्' शव्दका अर्थ करते समय वताया है कि 'सूतिकागृहसे' (कारागारसे नहीं)। कंसका कारागार केवल एक कोठरीका ही नहीं होगा, जिसमें देवकी वसुदेवको वेड़ी डालकर रक्खा गया था, निश्चय ही वहाँ प्रसवके लिए सूतिकागृहकी व्यवस्था भी की गयी होगी, जबकि देवकीके नवप्रसूत बालकको कंस अपने कब्जेमें लेकर मारना चाहता था। अन्य दण्ड्य कैदियोंके लिए भी कई कक्ष होंगे। अत: इस सूतिकागृहको कंसके महलका सूतिकागृह मानना उचित नहीं लगता, बल्कि कंसके कारागारका सूतिकागृह मानना ही अधिक उपयुक्त पड़ता है। श्रीमद्भागवत १०.३.४९के

द्वारस्तु सर्वाः पिहिता दुरत्यया बृहत्कपाटायसकीलश्रृङ्खलैः।

में—'बृहत्कपाटायसकीलशृङ्खलैः'—वड़े-वड़े कपाट याने किवाड़ लोहेकी साँकलोंसे और अर्गलोंसे वन्द थे—स्पष्ट ही कारागृहके द्योतक हैं और पूर्वापर प्रसंगमें श्रीमद्भा० १०.१.६६ के 'निगृह्य निगडै: गृहे'के अर्थ 'वेड़ो डालकर कारागृहमें रखने'के अर्थको पुष्ट करते हैं। 'गृहे' का अर्थ 'निजी गृह' न होकर प्राकरणिक 'कारागृह' ही इष्ट है।

आगे जाकर लेखक महोदय लिखते हैं कि जब वसुदेव गोकुलमें कृष्णको यशोदाके पास सुलाकर और उसकी कन्याको लेकर लौटे तो बाहर भीतरके द्वार सब पहिले-जैसे हो गये और बच्चेका रोना सुनकर 'गृहपाल' (कारागारपाल नहीं) जाग उठे। उन्होंने 'गृहपाल' का अर्थ घरका चौकीदार किया है। पूर्वापर प्रसंग श्रीमद्भा० १०.१.६६के 'निगृह्य निगड़ैः गृहे' में 'गृहे' का अर्थ 'कारागृह' सिद्ध हो जानेपर श्रीमद् भा० १०.४.१ के—

'ततो बालध्वनिं श्रुत्वा गृहपालाः समुत्थितः।'

में 'गृहपालाः' का सम्बन्ध उन्हीं 'गृहपालों' से है जिनका उल्लेख 'निगृह्य निगड़ैः गृहे के 'गृह' शब्दमें है।

श्रीमद्भागवत १०.४.३ में जिस 'सूतिकागृह'का उल्लेख है वह वही सूतिकागृह हो सकता है जिसकी चर्चा श्रीमद्भागवत १०.३.४७ के अर्थमें की जा चुकी है, न कि भोजेन्द्र कंसके महलका सूतिकागृह।

जब देवकीके अष्टम शिशु (कन्या) ने आकाशवाणी द्वारा कंसको बताया कि तेरा शत्रु किसी अन्य स्थानपर पैदा हो चुका (श्रीमद्भागवत १०.४.१२) तब कंसको अपने कृत्यों-पर पश्चात्ताप हुआ और उसने देवकी वसुदेवको विमुच्य—बन्धनमुक्त कर दिया (श्रीमद्भागवत १०.४.१४)। यह बन्धनमुक्ति भी कारागृहकी बेड़ियोंसे और कारागृहसे मुक्ति है।

नारदजीके द्वारा पुनः भड़काये जानेपर कंसने उन्हें फिर लोहेकी बेड़ियोंसे जकड़कर जेलमें डाल दिया—

ज्ञात्वा लोहमयैः पाशैर्बबन्ध सह भार्यया। (श्रीमद्भागवत १०.३६।२०)

कंसके मारे जानेके पश्चात् भगवान् श्रीकृष्णने अपने माता-पिता देवकी-वसुदेवको इस बन्धनसे छुड़ाया—

मातरं पितरं चैव मोचयित्वाथ बन्धनात्। (श्रीमद्भागवत १०.४४.५०)

ये सभी वर्णन इस बातके द्योतक हैं कि कंसके द्वारा देवकी-वसुदेव अपने महलमें या उनके निजी घरमें नजरबन्द नहीं रक्खे गये थे, बल्कि लोहेकी बेड़ियाँ डालकर कारागृहमें रक्खे गये थे। अतः भगवान् श्रीकृष्णका जन्म कंसके महलमें नहीं, बल्कि दण्डयोग्य व्यक्तियोंको रखनेके लिए जो कंसका कारागृह था, वहीं हुआ था।

इसके बाद लेखक महोदयने हरिवंशके विष्णुपर्व २.३.५ श्लोकोंका उद्धरण देकर उन श्लोकोंका अर्थ—

> 'देवकीको घरमें ही इच्छानुसार रहने दिया जाय, पर मेरे गुप्तचर उसपर गुप्तरूपसे दृष्टि रक्खे रहें और गर्भके समय तो सावधानी बरतें ही। हमारी स्त्रियाँ (देवकीके) रजोधर्मके महीने गिनती रहें। गर्भ पूरा होनेपर तो हम सब समझ लेंगे।
>
> जब वसुदेव स्त्रियोंके साथ हों तो उनपर रात-दिन हमारा हित चाहनेवाली स्त्रियाँ और नपुंसक उनपर दृष्टि रखें और कभी कारण न बतावें।

करते हुए बताया कि इससे अत्यन्त स्पष्ट है कि देवकी और वसुदेव मथुरामें अपने घरमें ही रहते थे और गुप्तचर तथा राजभवनकी स्त्रियाँ छिपी दृष्टिसे उनकी गतिविधि देखती रहती थीं।

हरिवंश–विष्णुपर्वका यह वर्णन श्रीमद्भागवतके १०.१.५५–६१ से मिलता हुआ है। वसुदेवजीने अपने वचनोंके पालनमें प्रथम पुत्रको ले जाकर जब कंसको दिया तब उनकी सत्यवादितापर प्रसन्न होकर कंसने उसे मारा नहीं, बल्कि लौटा दिया। वसुदेवजी अपने घर लौट आये लेकिन सशंकित बने रहे। उधर नारदजीने जब जाकर कंसको भड़काया (श्रीमद्भागवत १०.१.६२–६५) तब उसने देवकी–वसुदेवको—श्रीमद्भागवत १०.१.६६ के अनुसार, जिसका उल्लेख लेखक महोदयने आरम्भमें किया है—बेड़ी डालकर (कारा) गृहमें डाल दिया। उनके जो-जो सन्तान होती गयी, उसे वह मारता गया।

आगे जाकर लेखक महोदयने हरिवंश-विष्णुपर्व ४.२५ का उल्लेख करते हुए यह बताया है कि नन्द भी मथुरामें ही रहते थे, वसुदेवको बालकृष्णको वहाँ पहुंचानेके लिए यमुना पार करके नहीं जाना पड़ा। वह श्लोक और उसका अर्थ नीचे उद्धृत किया जा रहा है—

वसुदेवस्तु संगृह्य दारकं क्षिप्रमेव च।
यशोदाया गृहं रात्रौ विवेश सुतवत्सलः॥

'तब शीघ्र ही उस बालकको गोदमें लेकर रातके समय पुत्रवत्सल वसुदेवने यशोदाके घरमें प्रवेश किया।'

इस श्लोकमें न तो यह बात कही गयी है कि वसुदेवजीको यमुना पार जाना पड़ा और न यह कही गयी है कि यमुनापार नहीं जाना पड़ा। लेखक महोदयने 'क्षिप्रं यशोदाया गृहं विवेश' से केवल अनुमान लगाया है कि नन्द भी मथुरामें ही रहते थे। भगवान् श्रीकृष्णका जन्म मध्य रात्रिके समय हुआ। प्रातःकालकी चहल-पहल आरम्भ होनेके पूर्व ही वसुदेवजी शिशु-कृष्णको यशोदाके यहाँ पहुँचाकर वहाँसे उनकी कन्याको लेकर अपने कारागृहमें पहुँच गये। यह सब कार्य तीन साढ़े तीन घण्टेके भीतर ही सम्पन्न हो गया। प्रायः सभी पुराणोंमें नन्दजीका घर मथुरासे यमुना पार गोकुलमें बताया गया है। ऐसी हालतमें लेखक महोदयका यह अनुमान—कृष्ण-जन्म होनेपर वसुदेवजी वहीं (मथुरामें) रातको यशोदाके पास बाल-कृष्णको सुला आये और उनकी कन्याको ले आये, उन्हें यमुना पार करके नहीं जाना पड़ा—कहाँ तक संगत है, इसपर लेखक महोदय और पाठकगण पुनः विचार करें।

इसके पश्चात् लेखक महोदय हरिवंश-विष्णुपर्व ४।२८.३१ उद्धृत करते हैं। इन श्लोकोंको गीताप्रेस संस्करणके अर्थ सहित नीचे उद्धृत किया जा रहा है—

उग्रसेनसुतायाथ कंसायानकदुन्दुभिः।
निवेदयामास तदा तां कन्यां वरवर्णिनीम्॥ २८॥

आनकदुन्दुभि नामसे प्रसिद्ध वसुदेवने उग्रसेनपुत्र कंसके पास जाकर उसे अपनी सुन्दरी कन्याके जन्मका समाचार निवेदन किया।

तच्छ्रुत्वा त्वरितः कंसो रक्षिभिः सह वेगिभिः।
आजगाम गृहद्वारं वसुदेवस्य वीर्यवान् ॥ २९ ॥

यह सुनकर पराक्रमी कंस बड़ी उतावलीके साथ पैर बढ़ाता हुआ वेगशाली रक्षकोंको साथ लिए वसुदेवके गृहके द्वारपर आया।

स तत्र त्वरितं द्वारि किं जातमिति चाब्रवीत्।
दीयतां शीघ्रमित्येवं वाग्भिः समभितर्जयन् ॥ ३० ॥

वहाँ द्वारपर पहुँचते ही उसने तुरन्त पूछा—'कौन-सा बच्चा पैदा हुआ है? उसे शीघ्र मेरे हवाले करदो' ऐसी बातें कहकर वह वहाँ जोर-जोरसे गर्जन-तर्जन करने लगा।

ततो हाहाकृताः सर्वा देवकीभवने स्त्रियः।
उवाच देवकी दीना बाष्पगद्गदया गिरा ॥ ३१ ॥

तब देवकीके घरमें एकत्रित हुई सारी स्त्रियाँ हाहाकार करने लगीं। देवकीने अत्यन्त दीन होकर अश्रुगद्गद वाणीमें कहा।

यहाँपर वसुदेवजीका कंसके पास स्वयं जाकर कन्याके जन्मका समाचार देना, कंसका वसुदेवके गृहके द्वारपर आना और देवकीके गृहमें एकत्रित हुई सारी स्त्रियोंका हाहाकार करना, यह सन्देह अवश्य पैदा करता है कि इस कन्याके जन्मके समय वसुदेवजी कारागृहमें बेड़ी डाले हुए नहीं थे एवं उनका निवास भी कंसके निवाससे बहुत दूर नहीं था। पर इस विवरणका अन्य पुराणोंके विवरणसे मेल नहीं खाता। अन्य अनेक पुराणोंमें श्रीकृष्ण-जन्मकी कथा मिलती है; प्रायः सभीमें यही विवरण मिलता है कि श्रीकृष्णका जन्म कारागृहमें हुआ था और वसुदेवजी शिशु कृष्णको मथुरासे यमुना पार गोकुलमें छोड़ने गये थे। श्रीहरिवंश-विष्णुपर्वमें इस प्रकारके वर्णनका क्यों और कैसे समावेश हुआ—इसके सम्बन्धमें कुछ कहा नहीं जा सकता। कभी-कभी एक पुराण और दूसरे पुराणके वर्णनमें इतना अन्तर देखनेमें आता है कि उसका समाधान समझमें नहीं आता। हो सकता है कल्पभेदके कारण हो, जैसे ब्रह्मवैवर्तपुराण, श्रीकृष्ण-जन्म खण्ड, अध्याय—७ में यह वर्णन है कि देवकीकी आठवीं सन्तान कन्याको मारनेको जब कंस उद्यत हुआ तब आकाशवाणीने उसको बताया कि तू यह क्या नृशंस कार्य कर रहा है, तेरा मारनेवाला तो अन्यत्र कहीं उत्पन्न हो चुका; तब कंसने उस कन्याका वध नहीं किया और उसको देवकीको लौटा दिया।

फिर लेखक महोदयने हरिवंश-विष्णुपर्व ५.१.२ उद्धृत करके बताया है कि (१) इसके पश्चात् वसुदेवजीने नन्दको परामर्श दिया कि यशोदाको और इस बालकको लेकर गोकुल चले जाइये और वहीं हमारे पुत्र बलराम और इस बालक (कृष्ण) के संस्कार कीजिये, (२) इन सब सूत्रोंसे यह निश्चित होता है कि भगवान् श्रीकृष्णका जन्म कंसके राजभवनमें या वसुदेवजीके घर हुआ था, कारागारमें नहीं।

हरिवंश-विष्णुपर्वके इन श्लोकोंको गीताप्रेस संस्करणके अर्थसहित उद्धृत किया जाता है—

प्रागेव वसुदेवस्तु व्रजे शुश्राव रोहिणीम्।
प्रजातां पुत्रमेवाग्रे चन्द्रात् कान्ततराननम् ॥
स नन्दगोपं त्वरितः प्रोवाच शुभया गिरा।
गच्छानया सहैव त्वं व्रजमेव यशोदया ॥

हरिवंश-विष्णु ५.१.२

वसुदेवजीने प्रसवसे पहिले ही रोहिणीको व्रजमें भेज दिया था। जब उन्होंने सुना कि रोहिणीने पहिले ही एक ऐसे पुत्रको जन्म दिया है, जिसका मुख चन्द्रमासे भी अधिक कान्तिमान् है, तब वे तुरन्त ही (कंसका कर चुकानेके लिए पत्नीसहित मथुरामें आये हुए) नन्दगोपके पास जाकर मंगलमयी वाणीमें बोले— 'मित्र ! तुम इन यशोदाजीके साथ शीघ्र व्रजको लौट जाओ।'

यहाँपर नन्दजीका मथुरा आना कंसका कर चुकानेके उद्देश्यसे बताया है। इस समय यशोदाका, जो नवप्रसूता थी, उनके साथ मथुरा आना न तो सम्भव है और न व्यावहारिक। यदि इसको स्वीकार कर लिया जाता है तो वसुदेवजीका नन्दजीको यह कहना नहीं बनता कि यशोदाजीके साथ व्रजको लौट जाओ। कहना बनता है तो यही कि तुम यशोदाजीके पास व्रजको लौट जाओ। नन्दजीका कंसका कर चुकानेको मथुरा आना और वसुदेवके द्वारा उनको व्रज लौट जानेकी मंत्रणा देना, यह बताता है कि नन्द मथुरामें नहीं रहते थे।

सारांश यह है कि श्रीमद्भागवत एवं अन्य पुराणोंके अनुसार भगवान् श्रीकृष्णके जन्मके समय वसुदेव-देवकी बेड़ी डालकर जेलमें रक्खे गये थे, भगवान् श्रीकृष्णका जन्म कारागृहमें हुआ था, नन्दजी मथुरासे यमुना पार गोकुलमें रहते थे, वहीं वसुदेवजी शिशु-कृष्णको छोड़कर आये थे और बदलेमें कन्या उठा लाये थे। हरिवंश-विष्णुपर्वका वर्णन भिन्न है। पर अधिकतर पुराणोंमें श्रीमद्भागवतसे मिलता-जुलता वर्णन मिलता है, इसलिए वही अधिक मान्य होना चाहिए।

ब्रह्मवैवर्त्तपुराण, श्रीकृष्णजन्म खण्ड, अध्याय ७२, श्लोक १०७ में यह स्पष्ट वर्णन है कि कंस-वधके पश्चात् श्रीभगवान् कृष्णने वसुदेवजीको उनकी लोहेकी बेड़ियाँ काटकर छुड़ाया था।

भगवानपि सर्वात्मा जगाम पितुरन्तिकम्।
छित्त्वा च लोहनिगडं तयोर्मोक्षं चकार सः ॥

●

श्यामा-श्यामके चरणोंमें प्रेम ही जीवनका सार है

तत्त्ववादी हरिदास स्वामी

श्री गोकुलानन्द तैलङ्ग बी० ए० साहित्यरत्न

★

जब तक मनुष्यमें अहम्मन्यता है, वह स्वयंको किसी भी क्रियाका कर्ता समझता है और मानता है कि मैं अपनी शक्तिपर ही सांसारिक कार्योंमें सफल होता हूं, तब तक उसकी माया-मोहके वन्धनों से मुक्ति नहीं। जब जीव अपने सारे कर्म और कर्मफलोंको प्रभुके चरणोंमें समर्पित कर देता है, जब सर्वतोभावेन स्वयंको उसके हाथोंमें सौंप देता है और अपने योग-क्षेमके भारका वहन भी एकमात्र श्रीहरिपर छोड़ देता है, तभी उसे शान्ति मिलती है और वह निश्चिन्त होकर जगत्के कार्यपथपर बढते हुए भी अन्ततोगत्वा अपने एकमात्र लक्ष्य भगवच्चरणोंको पा लेता है। जहाँ सर्वांशतः आत्मसमर्पणकी भावना, अनन्य शरणकी उत्कट लालसा उसके हृदयमें जाग्रत् हुई वहीं उसे आनन्द-सिन्धुका, सौन्दर्य-माधुर्यका रसास्वादन हुआ। अज्ञानवश ही वह अपनेको स्वतन्त्र समझता है और इसीलिए जीवनके कार्योंका कर्ता बनकर भ्रममें पड़ जाता है। किन्तु जब सभी प्रक्रियाओंकी पूर्त्तिके अन्तिम परिणामको प्रभुपर छोड़ देता है तो अनायास ही उसके द्वारा हरिकी प्रेरणासे वे कार्य पूर्ण हो जाते हैं।

परम रहस्यवेत्ता, सिद्धान्त शिरोमणि स्वामी हरिदासजीके चारु चरित्रमें हम ऐसी ही एकान्त आत्मसमर्पणकी भावनाके तथ्यको पाते हैं। स्वामीजीका सिद्धान्त है कि जीव परतन्त्र है, वह किसी भी प्रकार संसारकी माया-वासनासे अपनी इच्छाके अनुसार मुक्त नहीं हो सकता, जब तक कि स्वयं हरि ही उसपर अनुग्रह न करें। वे कहते हैं—

ज्यों ही ज्यों ही तुम राखत हो,
त्यों ही त्यों ही रहियतु है हो हरि।
और अचरचै पाइ धरौ सु तो
कहो कौन के पैंड भरि॥
जद्दपि हौं अपनो भायो कियो चाहौ
कैसे करि सकौं जो तुम राखो पकरि।
कहि 'हरिदास' पिंजरा के जानवर लौं
तरफराइ रह्यो उडिबे कौं कितैक करि॥

पिञ्जरबद्ध पक्षीकी तरह वह कितना ही इस माया-जालसे निकल भागना चाहता है, किन्तु जब प्रभुकी कृपा हो तभी तो वह वहांसे भाग सकता है, अन्यथा अपने बलके भरोसे भाग उठनेकी हृदयमें अत्यन्त व्याकुलता होनेपर भी वहीं छटपटाकर, अपने पैरों, पंखोंको फड़फड़ाकर रह जाता है। वह विवश है, पराधीन है। प्रयत्न करनेपर भी उससे उन्मुक्त नहीं हो सकता। अपनी इच्छानुसार वह एक तिलभर भी सरक नहीं सकता। जिस प्रकार वायुके सञ्चालनके साथ ही एक तिनकेका उड़ना सम्भव है और उसी पवनके प्रवाहके साथ साथ वह भूमण्डलपर न जाने कहाँ-कहाँ भ्रमता है। उसी प्रकार यह जीव भी हरि-प्रेरणाके अधीन होकर भी विभिन्न योनियोंमें, विभिन्न रूप और वेषमें, विभिन्न लोकोंमें घूमता है। इन्हीं भावोंको स्वामीजीके ही शब्दोंमें देखिये—

तिनका बयारके बस
ज्यों त्यों उड़ाई लेजाइ आपने रस।
ब्रह्मलोक सिवलोक और लोक अस।
कहि 'हरिदास' विचारि देख्यो बिना बिहारी नाहिं जस॥

इतना जानते हुए भी उसमें अहंबुद्धि रहती है और यही उसके बन्धनका कारण है। इसी मूढ़बुद्धिके कारण वह अनेक प्रवञ्चनाओंमें फँसकर अपनी मुक्तिका उपाय सोचता है, किन्तु बिना प्रभु-अनुग्रहके, श्यामा-श्यामकी महती कृपाके, मोक्ष कहाँ ? बिना उनकी अनुकूलताके सुख-शान्ति भी नहीं। कहते हैं—

काहूको बस नाहिं तुम्हारि कृपा तें सब होइ बिहारी बिहारिनि।
और मिथ्याप्रपञ्च काहे को भाषिये सोतो है हारिनि॥
जाहि तुम सो हित चाहि तुम हित करो सब सुख कारनि।
'हरिदास' के स्वामी स्यामा कुञ्जबिहारि प्राननिके आधारनि॥

जीव भ्रमवश सुख शान्तिकी खोजमें अनेक दिशाओंमें चक्कर लगाता है। संसारकी एक-एक बातमें सुख ढूँढता है, छोटे-छोटे आकर्षण और प्रलोभनोंकी ओर खिंचकर कल्पना करता है कि भविष्यमें मुझे इनसे सुख-शान्तिकी उपलब्धि होगी, किन्तु अन्तमें आती है हाथ निराशा। महानुभावोंके एक-एक शब्द कह रहे हैं कि सुख-शान्तिका अनन्त अगाध सागर प्रभुचरणोंके पुनीत तटपर लहरा रहा है जो उस चिरसुखकी अभिलाषा लेकर उस पावन चरण प्रान्तकी ओर जाता है, उसीका अमोघ कल्याण है, निश्चय उद्धार है। जिसके हृदयमें हरिके पाद-पद्मोंके प्रति प्रेम है, उसके लिए उनके हृदयमें भी स्थान है। संसारमें एकमात्र 'निकुञ्ज बिहारी बिहारिनि' का पद-प्रेम ही है, जिसमें समस्त पदार्थोंके प्रेम और तज्जनित सुख अन्तर्हित है। संसारी सुखोंकी क्षणिकता और हरिचरणानुरागजन्य सुखकी उत्कृष्टता कितने सुन्दर ढंगसे उदाहरण देकर स्वामीजी बतलाते हैं—

हित तो कीजै कमल नैन सों जा हितके आगे और हित लागे फीको।
कै हित कीजे साधु संगति तौ सों जावे कल्मषजी को॥

हरि को हित ऐसो जैसो रङ्ग मजीठ संसार हित कसूंभी दिन दुईको।
कहि 'हरिदास' हित कीजै विहारि सौं औरू न निबाह जानि जो को॥

प्रभुपदप्रेममें ऐसी मिठास है कि उसका एकबार ही आस्वादन करनेपर फिर अन्य सुख फीके लगने लगते हैं। कुसुम्भीके कच्चे लाल रङ्गकी तरह जागतिक सुख दो दिनके हैं, क्षणिक और नश्वर हैं। यह तो नन्दनन्दन वृषभानुनन्दिनीके प्रेमकी चाट ही है जो मजीठके रङ्गकी तरह कभी छूटती नहीं और न फीकी ही पड़ती है। यह रङ्ग तो सदा ही उज्ज्वल और चमचमाता हुआ है। हाँ, साधु समागम अवश्य ऐसा है जिससे हृदयकी मलिन वासनाएँ धुलती हैं और हृदय स्वच्छ होकर हरिचरणानुरागके योग्य बन जाता है। अतएव श्री प्रभु एव प्रभुचरणसेवी सन्त ही श्रेयस्कर एवं सेव्य हैं।

हरिदास स्वामीने अपनी वाणयोंमें यह अच्छी तरह दिखला दिया कि संसारका यह माया-जाल हरिका एक कौतुकमात्र है। चारो ओर मृगतृष्णाका राज्य है। यहाँके धन, वैभव, यौवन आदि प्रलोभनोंके पीछे, जो ऊपरसे कितने सुहावने और शीतल दीख रहे हैं, एक ऐसी भीषण ज्वाला धधक रही है, जिसमें मनुष्यकी सारी अभिलाषाएँ दग्ध होकर भस्म हो जाती हैं। इन सारे सुखोंका सम्मेलन तीर्थोंके असंख्य यात्रियोंके मिलापके समान है जो न जाने कब मिटकर शून्यमें बदल सकता है। उन्हींके शब्दोंमें जगत्की इस क्षण-भंगुरताका मनन कीजिये—

हरि को ऐसो ही सब खेल
मृगतृष्णा जग व्यापि रही है कहूँ बिजोरौ न बेल।
धनमद जीवनमद और राजमद ज्यों पंछिनमें ठेल।
कहि 'हरिदास' यहे जिय जानो तीरथ को सो मेल॥

हमारे सभीके सिरपर मृत्यु-पिशाचिनोका नित्य ही भैरव नृत्य हो रहा है। न मालूम हममें से किसपर कब और कहाँ उसका ताल टूटे और देखते ही देखते हमारा यहाँसे महाप्रयाण हो जावे। आज दुनियाँके रङ्गीन चित्र हमारे जीवनके पर्देपर जो सामने नाच रहे हैं, एकक्षणमें ही विलय हो जायँ, किसे पता ? हमारा गुलाबी जीवन एक क्षण बाद ही तमोमय बन जाय··· कौन जाने ? अतएव सबप्रकारसे—

गहौ मन सब रसको रस सार।
लोक वेद कुल करम तजिये भजिये नित्य विहार।
गृह कामिनि कञ्चन धन त्यागो सुमिरो स्याम उदार।
कहि 'हरिदास' रीति सन्तनिकी गादीको अधिकार॥

परम रसराज, परम सारतत्त्व एकमात्र प्रिया प्रियतम ही ग्राह्य रसतत्त्व है। लोक कल्याणकी भावना रखते हुए सांसारिक कार्य करते हुए भी उनसे आसक्ति रहित हो श्यामा श्यामके पद-सरोजोंका चिन्तन करना ही जीवनका लक्ष्य है। कितना सुन्दर तत्त्व रखा है, स्वामीजीने हमारे सामने। वे और भी कहते हैं—

महाकवि ग्वाल कृत 'वंशी-बीसा'

पाठालोचन: डॉ० भगवान सहाय पचौरी

☆

महाकवि ग्वालकी यह एक दुष्प्राप्य लघु रचना है। वाराणसीके आचार्य पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैनके पास इसकी एक अनुलिपि है। म० स० विश्वविद्यालय बड़ौदाके गोविन्द गिल्लाभाई पुस्तकालयमें भी इसकी एक हस्तलिखित प्रति है, जो गोविन्द गिल्लाभाईके निजी हस्तलेखमें उनके रजिस्टरपर पृष्ठ १११-११२-११३ ११४ पर अङ्कित है। उक्त विश्वविद्यालयके हिन्दी विभागाध्यक्ष डॉ० मदनगोपाल गुप्तजीकी अनुकम्पासे उन्हीं द्वारा प्रमाणित उसकी अनुलिपि मुझे सम्प्रति प्राप्त हुई है। ग्वाल-ग्रन्थावलीमें यत्र-तत्र इसके कुछ छन्द मिलते हैं। कुछेक प्राचीन संग्रह-ग्रन्थोंमें भी वंशी-बीसाके कतिपय छन्द आकलित हुए हैं। मथुराके पं० जवाहर-लाल चतुर्वेदीने भी इसकी एक प्रति अपने पास बतायी थी तथा श्री नवनीत पुस्तकालय, मथुरामें भी इसके अस्तित्वकी खोज रिपोर्टोंमें चर्चा है। परन्तु अन्तिम उल्लिखित दोनोंमेंसे एक भी हमें देखनेको नहीं मिली। निदान, गोविन्द गिल्लाभाईके हस्तलेखको आधार मानकर अधोलिखित पाठ प्रस्तुत किया जा रहा है। —लेखक

मन लगाइ प्रीति कीजे कर करवा सौ ब्रजवीथिनि दीजे सोहिनी।
वृन्दावन सौ बन उपवन सौ गुञ्जमाल करपोहिनी॥
गो गोसुतनि सो मृगमृगसुतनि सो और तन नेज न जोहिनी।
'श्रीहरिदास' के स्वामी स्यामाकुञ्जबिहारी सोचित ज्यों सिरपर दोहनी॥

परमतत्त्व राधाकृष्णके चरणोंमें अपनी वृत्तियोंको लगाकर विरक्त वेषमें व्रजकी गलियोंमें विचरण करें···व्रजके कुञ्ज—निकुञ्जोंके सुरभित पुष्पोंकी गुञ्जमालाओंको गलेमें डालकर गौ मृग-वत्सोंके साथ विहरते हुए एकान्त भावनासे प्रियाप्रियतमकी उपासनामें अपनी वृत्तियोंको नियोजित रखें।

कितना गम्भीर तथ्य है यह, जिसे स्वामी हरिदासजीने अनेकानेक निगम-शास्त्रोंसे मन्थन कर विमुख सांसारिक जीवोंके कल्याणके लिए दिया है।

श्री गणेशाय नमः

अथ श्री वंशी-बीसा ग्रन्थ प्रारम्भ

मंगलाचरण दोहा :

विदित[1] विहारीलाल कौ, बंसी बीसा देश।
विदूष बदन बिकसावाही.[2] बुधिबल करे विशेष ॥ १ ॥

कवित्त

और विष जेते तेते प्रानके हरैया होत, बंसोके कठेकी कभूं जाय ना लहर है,
सुनत[3] ही एक संग रोमरोम रचि जाय, जोम जारि डारै, पारै बेकलो गहर है।
'ग्वाल कवि' लाल तोसौं जोरि कर पूछत हौं, सांच कहि दीजौ जोपै मोपर महर है,
बांसमें कि वेधमें कि ओंठमें कि फूंकमें कि आंगुरीकी दाबमें की[4] धुनिमें जहर है ॥२॥
याकौ रूपरंग सब सुन्दर सरोर[5] सोहै, वाको बदरंग औ भयावनो ही भेष[6] है,
यह तौ[7] अनेक नर[8] दूरहो सौं[9] डसि डारे[10], वह डसै एक छूकें अंग इक देस है।
'ग्वाल कवि' याकौ झरवैया तू ही ताकियत, बाके झरवैयन कौ चहूंधा प्रवेस है,
एते गुन जादा[11] तेरी बंसी बीच बनमाली, बातैं विषझाली यह व्याली तैं विशेष है ॥३॥

कौनसे बिपिन मैंके बांसकी बनाई कान्हं,
मात करि दीन्हीं तैं सिकारकी जो बंसी हैं।
वह फांसे एक मीन यह फांसे लाख नारि,
जानी जात यातैं यह कौऊ देस बंसी है ॥
'ग्वाल कवि' कहैं बाकी जल ही मैं चलै जोर,
याको थल मांहि जोर जग मैं प्रसंसी है।
वह हरे कला प्रांन, विकला करत यह,
यातैं लला अदभुत बनी तेरी बंसी है ॥३॥
मोहि लेइबे तैं नाम मोहन भलो ही[12] भयौ,
सोसन तैं होत ख्याल सिगरे नसत है।
भलीभांति दीपन तैं कहियत संदीपन,
करे उनमाद काज भूले सौं लसत हैं ॥
'ग्वाल कवि' कहत तपाइबे तैं सन्तापन,
जुदे जुदे जोर भरे सोई सरसत हैं।
जे जे[13] बान भरे कामदेव के जो पांचौं बान,
सांमरे[14] सुजान तेरी बंसीमें बसत हैं ॥४॥

---

१. बन्दन, २. विकसाव री, ३. सुननें, ४. कि, ५. शरीर, ६. भेश, ७. सो, ८. नरों, ९. सें, १०. डारे, ११. जादे, १२. मजे की, १३. ये ये, १४. सांवरे।

केती अरबिन्दमुखी केती चारु चन्दमुखी,
मुकर-अमन्दमुखी जुर्‌यौ रूप रासा है।
सब ही पुकारैं कान्ह बंसी-धुनि बान मार्‌यौ,
आनि लाग्यौ हियौ कियौ होसकौ निकासा है॥
'ग्वाल कवि' केती कहैं छिदि गयी छिद गयी,
छाती में रह्यौ न छेह जीवे की न आसा है।
केती कहैं भाल है न, पाँख है न बेध है न,
प्रानन निकारे डारे अजब तमासा है॥५॥

कहाँ जाइ ब्रज तजि बसिबौ अलभ्य भयौ,
फैलिबौ बिसाल भयौ बंसी-धुनि-जालकौ।
यह तौ अनौखो भयौ रसिक उताल भयौ,
ख्याल भयौ मन्त्र वाकी फूंक में रसाल कौ॥
'ग्वाल कवि' भलौ यह जसुदा कौ बाल भयौ,
जाइ तन्त्र थाल भयौ चलनी कुचाल कौ।
हिय हिय साल भयौ गोपिन जंजाल भयौ,
ख्याल भयौ दैया निरदैया नन्दलाल कौ॥६॥

जरि क्यौं गयौ न बांस जातैं यह बंसी दनी[1]
बजिकैं निगोड़ी करि डारत अचेत है।
अपनौ बिंधायौं तनं सो तौ सबै दीखत है,
वाकौ कियौ बेध सो दिखाई नहीं देत है॥
'ग्वाल कवि' जानैं कहा जादू भरि राख्यौ वामैं,
कौं न सौ फिराहू होय अचरज खेत है।
डांकिनि ज्यौं उर तें करेजा काढ़ि लेति साफ,
त्यौं गुपाल बालन के मन काढ़ि लेत है॥७॥

है तौ तू बड़ौ ही बेदरद बिगरैन बांको;
बाँसुरी बजाई का प्रलय करि डारी तैं।
थोरी बैसबारी कहा सम सम बैस बारी,
प्रौढ़ बैसबारी सब लदी सुकुमारी तैं।
'ग्वाल कवि' गोरी कहा सांमरी सलौनी कहा,
चातुर[2] औ भोरी कहा भरी रूप भारी तैं॥
बौरी करि डारीं औ विकल करि डारों हाय,
बेधि बेधि डारी सारी बार बार डारी तैं॥८॥

---

१. भई, २. चातुरी।

दीपन सी बाला दीपमाला में दिपै हीं राति,
कहैं हैं दिखैया जिन्हैं नरी है कि परी हैं।
ताई समै तैंने निरदई काज जब कियौ,
आगैं कहूँ नन्द हूँ ने ए कुचाल करी हैं॥
'ग्वाल कवि' गोपिन की गांमनि हंसनि तामैं,
फूँकी तैं न बंसी तैंनैं[1] आगि फूँकि धरी है।
चौकि परीं चकि परीं तकि परीं जकि परीं,
बकि परीं थकि परीं मूरछित परीं हैं॥९॥
गोधन के पूजिवे कौं गोपी चली[2] जाति हुतीं
छाकनं तैं थार भरैं गहे जात सिर के।
पाइजेब झांझन की होत झनकारैं जैसी,
तैसी किलकारैं गीत मीत पुंज घिर के॥
'ग्वालकवि' त्यौं ही कान्ह बाँसुरी बजाई सुनि,
आँसुरी उमंगि चले अङ्ग अङ्ग थिर के।
फिरि परीं चिरि परीं भिरि परीं गिरि परीं,
ऊँचैं परी नीचैं परी बीचैं परी गिर के॥१०॥
सुनतेई धुनि के न मुनि के रहत मन,
त्यागि देत जोगी जग प्रन जोग बानें कौं।
अबला बिचारी कौन भाल जो सहारे साल,
होत[3] बदहाल होस रहत न खाने कौं॥
'ग्वाल कवि' कहै वे वचैं न बन घन हूं में,
घायल ह्वै गिरैं करें सोइ बिललाने कौं।
विहद बिपीर बैरी बनवारी बांकरे की,
बांसुरी को लहरा के छरा तोपखाने कौं॥११॥

आकर्षण कवित्त

एकफनी दसफनी सत ओ सहस्रफनी,
लै[4] नागिनी बीन आये जूथ न्यारी कीनी है।
नग आये नगी आईं नर अरु नरी आईं,
देव अरु परी आईं करि प्रेम पीनी है॥
'ग्वाल कवि' गन्धर्व अप्छरी अनन्त आईं,
सुर अरु सुरी आईं कौतुक नवीनी है।
आकरसन एक को विदित हुतो बसुधा में,
बांसुरी बिहारी की नैं खैंचे लोक तीनौं है॥१२॥

---

१. मैं न, २. चढ़ी, ३. होय, ४. लै, ले।

स्याम तोहिं सखा हू बरजि रहे बार बार,
तऊ तैंने बांसुरी मैं गाई पीर गाइवे।
पति हू है पास अरु सासु हू को तज्यौ त्रास,
तजि कैं निवास सब धाई परिधाइवे॥
'ग्वाल कवि' आधी राति सरद की वेदरद,
अबला, प्रतनु, ताप ताई परिताइवे।
साजे ना सरीर, औ धर्‌यो न काहू नैंको धीर,
तेरे तीर तीरु सी ह्वै आई परि आइवे॥१३॥

केतो भजैं लियैं नीर केती भजैं लियैं छीर,
केती भजैं तजैं धीर विकल बिसाल मैं।
न्हात भजैं खात भजैं केती बतरात भजैं,
गैयन दुहात भजैं उमँग उछाल मैं॥
'ग्वाल कवि' जैसैं मच्छ आवे एक जाल बींच,
सफरी अनेक फँसो आमैं ज्यौं उताल मैं।
तैसैं व्रजवाला[1] फँसी चली आमैं चहुँधा तैं
कांन्ह जादू भरी तेरी बंसी-धुनि-जाल मैं॥१४॥

उच्चाटन कवित्त

सेस की फनाली हाली अवनी बिसाली हाली,
गिरन की आली हाली तरु उनपाटे हैं,
संभु ध्यान उसरयो औ बिसर्‌यो विरंच वेद,
जोगिन के साधन मैं प्राणायाम फाटे हैं।
'ग्वाल कवि' दिनन प्रवाह किये औरैं राह,
चाह तजी गैयन हू बछरा न चाटे हैं,
बृंदावन बीच बीस बांसुरी बिहारी कीन्हे,
बानो बांधि बेधि मन सब के उचाटे हैं॥ १५॥

मारन कवित्त

भली नाम नंद को उछार्‌यो दाव सोखि, रीखि[2]
दोखि पर्‌यो सबही को निपट[3] नादान तू,
प्रानन को गाहक भयो[4] है नयो छैल स्याम,
निरदई नाहक सतावै अबलान तू।
'ग्वाल कवि' बांसुरी बजाइकैं चलावै घात,
गात मैं समात ऐसौ मारे मैन बान तू,
लै लै फरफरी तरफरी परी अधमरी,
ए पे अब मरी अब मरी यही जान तू॥ १६॥

---

१. व्रजवाले, २. शिखिशिखि, ३. नियत, ४. बनो।

स्तम्भन कवित्त

कासौं कान्हं थंभन कौ मंत्र सीख्यौ बांसुरी मैं,
जाकी धुनि सुनि हरे हरित थकैं परैं,
बछरा पियें न छीर गैया नहिं पियैं नीर,
न्हैया नहिं धारैं चीर विहँग चकैं परैं।
'ग्वाल कवि' कहै जे खड़े हे ते खड़े ही रहे,
बैठे रहे बैठे राही रुकि कैं छकैं परैं,
जो जो जीव जित जित जैसें जहां जहां रहे,
तैसें तहां तहां रहे ताकत तकैं परैं॥ १७॥

देख्यौ देख्यौ सबु ही सहूर तेरो उतपाती,
जाति है न राति बंसी नैकु तौ रहन दै,
तारेन कौ वृंद थक्यौ चंद मति मंद थक्यौ,
सिसुमार फंद थक्यौ मारग बहन दै।
'ग्वाल कवि' अब अरविंदन कौं फूलन दै,
मंजुल मलिंदन कौं मधु तो लहन दै,
हौन दै रे हौन दै सबेरो निरदई कान्हं,
रई कौं चलन दै औ गैयन दुहन दै॥ १८॥

चारौं मंत्र कवित्त

तेरे संग लगीं डोलैं ब्रज बाला बन बन,
मन अनगिन ह्वै अथिर उकसे रहैं,
जहां चाहै जब चाहै तहां तब खैंचि लेइ,
जूथन पे जूथ आमैं जोम सौं लसे रहैं।
'ग्वाल कवि कहै कभूं अचला सो करि डारै,
तोऊ द्रग उनके सु ध्यान मैं धंसे रहैं,
मोहन उचाटन आकरषन औ थंभन हू,
चारौं मंत्र कान्हं तेरी बंसी मैं बसे रहैं॥ १९॥

कान्हं तैनैं कामरूं की करामात सीखी कब,
कबतैं जगाई जोर जंत्रन की जोत है,
कौन कंदरा मैं बैठि करे व.रतूति कला,
कौन से परब सिद्धि कियौ मंत्र गोत है।
'ग्वाल कवि' गोपिन के खैंच लेइबे के लियैं,
बंसी एक नाली जाकौ हरित उदोत है,
दसनाली थंभ कौं उचाटिबेकौं सतनाली,
मोहिबे कौं अजब हजारनाली होत है॥ २०॥

इति श्री ग्वालराव कवि विरचित बंसी-बीसा ग्रंथ संपूर्ण

साहित्य-सुधाशीकर

हास्यका साम्य और वैषम्य

मूर्ख विदूषक और वयस्क विदूषक

स्व० श्री व्रजनाथ झा

★

(गताङ्कसे आगे)

invitation[1])—इसे बहुत पसन्द है। यह रोजालिन्डकी वासनापर हंसी उड़ाता है। इतना ही नहीं, अपना विवाह Audrey[2]—के साथ करता तो है किन्तु उस पुनीत विवाहकी भी हँसी उड़ाता है।

टचस्टोन हँसोड़ है परन्तु बुद्धिमान् भी है। इसकी बुद्धि तेज है। Giies—के शब्दोंमें (Touchstone is the Ham of Motley)

देखिए इसकी मूर्खतामें वैदुष्यका नमूना। रोजालिन्ड कहती है : 'तुम[3] जो हो उससे अधिक बुद्धिमानीसे बोलते हो।' इसी प्रकार जेक तथा ड्यूक[4]—भी इसकी मूर्खतामें विद्वत्ता और गम्भीरता बताते हैं। शेक्सपीयरके आलोचकोंमें Leopald—का नाम अच्छे समालोचकोंमें आता है। इनका कहना है कि टचस्टोनके मस्तिष्कमें कुछ दरारें हैं, फाट है, जिसके छिद्रसे कभी-कभी प्रकाश आता रहता है।[5]

यह ट्यस्टोन ट्वेल्थ्यनाइट (Twelvenight) के फेस्टे से (Feste) कम हास्य उत्पन्न करता है, परन्तु बुद्धिमान् ज्यादा है।[6] इसी प्रकार Falsfabb lancelot Gobbo से

---

१. As you like it—11.4.42-51 तक।

२. यह रोजाकिन्ड एवं सीक्रियासे कहता है। 'For my part I had rather bear with you than blar you yet I should bear no crose, if I did bear you, for I think you have no money in your purse'—Act iii Scene Iv.

३. 'Thou speakest wiser them thou art ware of'—11.4.52.

४. He uses his folly like a slaking' horge.

५. इस तरह प्राचीन संस्कृत नाटक एवं प्राचीन अंग्रेजी नाटकके विदूषकके ३ भेद हैं।

(१) जो आकृति-विशेषसे हास्य उत्पन्न करता हो। जिसको देखते ही हँसी आ जाती हो।

(२) बाह्य इन्द्रियोंसे उद्भूत वैकृति-प्रदर्शनसे। विशेष हाव भाव और मुद्रासे।

(३) विकृत अर्थ विशेष वाले शब्दोंके खेलसे। इसमें wit, Pun, irony, satire होता है।

६. He is undonbtebly slightly cracked, but the very crack in his brain are chinks which let in light 'Leopold.

अधिक चतुर, तीक्ष्ण और तेजस्वी है। किन्तु वे गीत गाते हैं। Touchstone गीत नहीं जानता। इसी प्रकारके King lear विदूषकसे भी यह भिन्न है, क्योंकि उसमें दुःखान्त इतिवृत्ति है।

इस तरह टचस्टोनके बारेमें पाँचों अंकोंसे एक एक उदाहरण दे देना लेखकके हेतु उचिततर एवं पाठकके हेतु अधिक हितकर प्रतीत होता है। प्रथम अंकमें रोजालिण्ड टचस्टोनसे जब कहती है कि 'तुम अपनी विद्वत्ता प्रकट करो' तो देखिये टचस्टोनका हास्य भरा व्यंग्य— 'आप[1] दोनों आगे बढ़कर अपनी अपनी दाढीकी कसम खाकर कहें कि मैं विद्वत्ता प्रकट कर सकता हूँ। 'In as you like it, for instance the artificiality of pastorlism is devided by Touch stone's solemn fooling. Jagne's scoffs at the idea of Arcadia as a free republic and by means of both satire and parody the ethical motive of pastoralism is help to rediculs'.

—English literary criticism pp 248 by J. W. H. Atkins.

द्वितीय अंकमें टचस्टोन रोजालिन्डको कहता है कि हमारे जैसे सच्चे प्रेमो प्रेममें बहुत कुछ मौर्ख्य करते हैं। किन्तु जैसे प्रकृतिमें सभी वस्तु मरणशील हैं इसी तरह सभी प्राकृतिक वस्तुएँ जब प्रेम करती हैं तो मूर्खता ही मूर्खता दिखलायी पड़ती[2] है। पाँचवे अंकमें देखिये टचस्टोनकी हँसोड़ प्रवृत्ति जहाँ बुद्धि भी अपनी जगह काम कर रही है। विलियमको आते देखकर टचस्टोन कहता है कि [3]किसी विदूषकसे मिलना मेरे लिए महत् भोज्य है : हमारे जैसे विदूषक, जिन्हें बुद्धि मिली है, बहुत उत्तरदायी होते हैं। अतः मैं इनसे हँसी करूँगा ही, मै रुक नहीं सकता। यहाँ देखिये कि घटना-चक्र बढ़ानेके हेतु विदूषक टचस्टोन अपनी बुद्धिका सदुपयोग करता है और इस तरह नाटकमें एक समुचित योगदान करता है :

अब आइये और देखिये भगवदज्जुकीयम्, भास और कालिदासके विदूषकोंको जो सदा राजसेवक है, पौरस्त्य संस्कृतिसे युक्त है मूर्ख भी है और बुद्धिमान् भी। पौरस्त्य और पाश्चात्त्य विदूषकोंकी छोटी-मोटी तुलना अन्तमें प्रस्तुत की जायगी।

'भगवदज्जुकीयम्[4]' में विदूषक केवल सूत्रधारके साथ दिखलायी देता है। इसके बाद इस प्रहसनमें हास्य उत्पन्न करनेवाला परिव्राजकका शिष्य शाण्डिल्य है। लीजिये एक छोटा

---

१. Stand you both for the now, stroke your chins; and swear by your beard that I am a Khave. ·Act. 1. Scene II

२. We that are true lover srun in strange capers, but as all in hatueu is mortal, so is all nature in love mortal in folly " Act II. Scene IV.

३. It is meet and drink for me to see a clown. By my troth, we that have good wits have much to answer for : we shall be flouting, we can not hold " Act. V. Scene I.

४. यह १०० ई० पू० से २०० ई० पू० तक बोधायनकृत प्रहसन है। भाणके समान सन्धि, सन्ध्यङ्ग, लास्याङ्ग और अंको द्वारा सम्पादित ओछे छोटे दर्जेके कविकाकविकल्पित

अध्ययन इनका प्रस्तुत है। विदूषकसे जब सूत्रधार प्रहसन करनेको कहता है तो विदूपक कहता है कि मैं हास्य हूँ, पर प्रहसन नहीं जानता।[1]

आमुखके बाद परिव्राजक और शाण्डिल्यका सम्भापण प्रारम्भ होता है, जिसमें शाण्डिल्य अक्सर हँसी उत्पन्न करता रहता है। यहाँ भी विदूषकोंकी तरह शाण्डिल्यका भोजनके प्रति आकर्षण दिखलायी देता है।

'एकोऽहम् अन्नहतत्वेन यष्टिं प्रविष्टो
न खलु धर्मलोभात्'—श्लोक ५ (भगवदज्जुकीय)

इसके बाद वैराग्य, योग, आत्मा, कर्मात्मा आदिके ऊपर हास्यसे शाण्डिल्य प्रश्न पूछता है। यह बड़ा डरपोक है। मयूरको देकर व्याघ्रके भयसे व्याकुल होता है, जिससे हास्य उत्पन्न होता है।

'विद्यादास्याः पुत्रो व्याघ्रो मद्भयेन मयूररूपं गृहीत्वा पलायते'।

इससे भी अधिक हास्य तब उत्पन्न होता है जब अज्जुका रामिलकसे प्रेममें विह्वल रंगमंचपर आती है। शाण्डिल्य इसे अपना समझने लगता है। इसी बीच यमपुरुष अज्जुकाका प्राणहरण करता है। किन्तु चित्रगुप्तसे यह मालूम होनेपर कि गलतीसे उसका प्राण हरा है तुमने, यमपुरुष फिर आता है और थोड़ी देरके लिए कुतूहल उत्पन्न करनेकी दृष्टिसे परिव्राजकके प्राणको अज्जुकामें दे देता है। यहाँ अपूर्व हास्य उत्पन्न होता है। अज्जुका बौद्धिक विचार करने लगती है। इधर परिव्राजक रामिलककी बात करने लगते हैं। परिव्राजक—'रामिलक आलिङ्ग माम्' कहता है। उधर अज्जुका विषवैद्यको शास्त्रवचनोंसे मूर्ख बनाती है। देखिये : अज्जु० न, न, सप्तविषवेगा। इस बीच शाण्डिल्य दोनोंकी चेष्टाओंको देखकर श्रोताओंके हेतु हास्य उत्पन्न करता रहता है। अन्तमें यमपुरुष फिर दोनोंमें प्राणको यथास्थान रख देता है। इस तरह इस प्रसहनका नाम 'भगवदज्जुकीय' है। इसका अर्थ है भगवान् (परिव्राजक) ही जहाँ अज्जुका बन जाते हैं, वैसा प्रहसन। इस प्रहसनमें हास्यकार किसी घटना विशेषमें या नाटककी कथामें कोई योगदान नहीं करता। अतः यह शेक्सपीयर एवं भास और कालिदासके विदूषकसे भिन्न है, पर बौद्धिक एवं सामयिक हास्यमें कम[2] नहीं है।

वृत्तान्त प्रहसन कहलाता है। यह शुद्ध और संकीर्ण होता है। यह भगवदज्जुकीय शुद्ध प्रहसन है। इसके अलावा और कुछ प्रहसन हैं—देखिये संस्कृत साहित्यका इतिहास गैरोला। पृ० ५६०.

१. भगवन् हास्योऽपि प्रहसनं न जाने'—भगव० (आमुख) ज्ञातव्य है कि भगवदज्जुकीयम्‌का विदूषक अपने आकृति-विशेषसे ही दर्शकोंको हँसा पाता है, वाणी और बौद्धिक कथनोपकथनसे नहीं। अतः सूत्रधार कहता है कि केवल वेशभूषासे हँसानेके बजाय तुम हास्यकी अवतारणा सीखो और देखो वह शाण्डिल्य आ रहा है।

२. भगवदज्जुकीयमें भी विदूषक सूत्रधारका वयस्य है। किन्तु विदूषक होकर भी प्रसहन नहीं जानता है। वह केवल हास्य है। इसी हेतु सूत्रधार उसे प्रहसन सिखाना

भासका विदूषक राजा उदयनका वयस्य है। संस्कृत परम्पराके अनुसार यह राजाका विश्वासपात्र और सदा साथ रहनेवाला ब्राह्मण है। वह अपने विचित्र कुरूप वेशसे हास्य लानेके साथ-साथ अपने कथोपकथनसे भी हास्य उत्पन्न करता रहता है। वह पेटू अंटसंट बोलता रहता है और प्रेम-प्रसङ्गमें राजाका साथ देता है।

किन्तु उदयनका वयस्य गम्भीर है, पर है पेटू। यह चतुर्थ, पञ्चम तथा षष्ठ अङ्कोंमें राजाके साथ दिखलायी देता है। 'हाँ हाँ भोजन छोड़कर सभी लाओ' अधन्यस्य मम कोकिलानामक्षिपरिवर्त इव कुक्षिपरिवर्तः संवृत्तः (स्वप्न० ४ अंक)। इसी प्रकार राजासे जानना[1] चाहता है कि वह वासवदत्ताको अधिक चाहते हैं। पाँचवें अंकमें जब सोचते हुए राजा सोने लगते हैं तो उन्हें किस्सा सुनाता है। हं, हो, इति करोत्वत्र भवान्'। वस्तुतः कथा कहनेवालेको ऐसा सुननेवाला चाहिए जो 'हूँ हूँ' करता रहे। सहसा राजा कह उठते हैं कि उन्होंने वासवदत्ताको देखा है तो कहता है कि इस नगरमें अवन्तिसुन्दरी[2] नामकी यक्षिणी रहती है। इसी तरह षष्ठ अङ्कमें राजा[3] वीणावादन सुनकर घोषवती,[4] जो वासवदत्ता बजाती थी, विदूषकसे लानेको कहते हैं। इस तरह हम यहाँ विदूषकको वस्तुतः वयस्कके रूपमें पाते हैं जो राजाके सुखमें सुख और दुःखमें दुःखका अनुभव करता है। इस वयस्कमें Pun, wit[5] और satire देखते हैं।

कालिदासके नाटकोंमें[6] पहले मालविकाग्निमित्रको लीजिये। यह सर्वात्मना त्रोटक है। इसमें विदूषक सभी अङ्कोंमें राजाके यथार्थ वयस्यके रूपमें काम करता है। अग्निमित्र और मालविकाको मिलाना तथा दोनोंके हृदयमें प्रेमभाव प्रकट करना तथा रानी धारिणीसे राजाके मालविकागत भावको छिपाना इस गौतमका प्रधान कार्य है। किन्तु केवल तुच्छ

चाहता है। इस प्रहसनको इसी कारण इस तुलनात्मक अध्ययनमें लिया गया है। ऐसे तो प्रहसनोंमें महेन्द्रविक्रम कृत 'मत्तविलास', शङ्खधर कृत 'लटकमेलक' (धूर्तसम्मेलन), ज्योतिरीश्वर कृत 'धूर्त समागम', कवि तार्किक कृत 'कौतुकरत्नाकर' आदि हैं। पर इनमें वयस्य कोई नहीं है।

१. स्वप्न० ४।४।

२. ज्ञातव्य है कि वासवदत्ता अवन्तिसुन्दरी थी। इससे यह प्रतीत होता है कि वह इस घटनाको कहीं जानता हो।

३. श्रुतिसुखनिवेदे कथं नु देव्याः। —स्वप्न० ६।१।

४. तां तु देवीं न पश्यामि यस्याः घोषवती प्रिया ६।३।

५. राजाके आँसू पोंछनेको जब पानी लाने जाता है और मार्गमें पद्मावती मिलती है तो उन्हें कहता है कि राजाकी आँखोंमें केशर रज गिर गया है। इधर राजासे बहाना बनाकर कहता है कि आज आपको अभी मगध राजासे मिलना है।—(स्वप्न० चतुर्थ अङ्क)

६. सप्ताष्टनवपञ्चाङ्कं दिव्यमानुषसंश्रयम्।
त्रोटकं नाम तत्प्राहुः प्रत्येकं सविदूषकम्॥—वर्क्स आफ कालिदास (देवधर)

हँसी ही नहीं उड़ाता, चतुरता तथा बौद्धिक रिमार्कसे हँसी उत्पन्न करता है। प्रथम अङ्कमें राजासे कहता है 'प्रयोगसिद्धं पृच्छ', 'फलमपि प्रेक्ष्यसि'। द्वितीय अङ्कमें नृत्यके बाद रानी धारिणीको भेज देता है और बड़ी चतुरतासे मालविकाको राजाके पास रख लेता है। रानी धारिणीसे कहता है कि 'भवति विशेषेण भोजनं त्वरयतु' जब रानी चली जाती है तो राजासे कहता है कि ले अब सूनसान है मालविकासे मिल[1] पर गृध्रकी तरह तुम आमिषलोलुप भी हो और कुत्ताके डरसे डरते भी हो। अतः आतुर मत होना और यह मालविका भी तुम्हारी तरह मदनज्वर-सन्तप्त होगी। चतुर्थ अंकमें धारिणीसे सर्पमुद्रित[2] अंगूठी सांप काटनेके बहाने में ले लेता है जिसके सहारे मालविका और उसके मित्रको स्वतन्त्र किया जा सके। इसी तरह जब धारिणी अन्तमें मालविकाका हाथ राजाके हाथमें सौंपती है तो राजा लज्जालु होता है। यह देखकर विदूषक कहता है कि नहीं प्राप्ति होने पर लज्जा त्याग और उपलब्धि पर लज्जा होना लोक[3]-व्यवहार है। इस प्रकार इस त्रोटकमें विदूषक वस्तुतः राजाका वयस्य रहा है, जो 'विक्रमोर्वशीयम्'में नहीं दीखता।

विक्रमोर्वशीयमें राजाकी उर्वशीके साथ वासनापूर्तिमें वह सहायक नहीं होता, प्रत्युत उर्वशीका प्रेम-पत्र रानी निपुणिकाको दे देता है तथा आँखों देखी बातें भी कह डालता है जो राजाके उर्वशी प्राप्तिपथका बाधक था। किन्तु समय समय पर पर्याप्त हास्य प्रकट करता है। इसे अंग्रेजीमें Connoisseur कहते हैं। यह सभी वस्तुको भोजन-पानमें देखता है। यहाँ तक कि चन्द्रोदयको खण्डमोदक[4] तथा स्वर्गमें खान[5]-पानका अभाव आदि इसके हास्यके विषय हैं। इसीलिए प्रायः कहा गया है कि 'ब्राह्मणो मधुरप्रियः'। राजा क्षत्रिय होते थे, ब्राह्मण विदूषक, जो केवल खाता[6]-पीता रहता था। अतः इसे बदनाम कर दिया गया।

इस तरह इस त्रोटककी घटनासे विदूषकका कोई सम्बन्ध नहीं है। यह केवल हास्योत्पादक रूप और रससे श्रोताओंका मनोरञ्जन करता है।

रमणीय 'अभिज्ञानशाकुन्तल'में विदूषक अपने स्वायत्त हास्यसे कुछ अधिक कर लेता है। द्वितीय अंकमें जब राजा माताकी पारणाके समय जानेकी इच्छा करते हैं पर तपोवन (शकु०) छोड़ना नहीं चाहते, तब विदूषक कहता है 'त्रिशङ्कुरिव अन्तरा तिष्ठ'। किन्तु राजाकी बात समझकर उसका सहायक बनकर सभी सिपाहीको लेकर राजप्रासाद चला जाता है। जाते

---

१. भवानपि सूनोपरिचरो गृध्रइव आमिषलोलुपो भीरुश्च।
तस्मादनातुरो भूत्वा कार्यसिद्धिं प्रार्थयमानो मे रोचसे। (अंक २)
'एषापि भवानिव मदनव्याधिना परामृष्टा भविष्यति'। (अंक ३)

२. देव्या अङ्गुलीयकमुद्रिकां दृष्ट्वा कथं विचारयति। (अंक ४)

३. भवति एष लोकव्यवहारः सर्वोऽपि नरवरो लज्जातुरो भवति। (अंक ५)

४. ही ही एष खण्डमोदकसश्रीकः उदितो राजा द्विजातीनाम्'

५. 'किं वा स्वर्गे स्मर्तव्यम्, न वा अश्यते न वा पीयते'। (अंक ३-२)

६. He makes only funny remarks. There is nither uit nor irony or satire neither in his speach'—Devodhar (works on Kalidas).

समय राजा उसे कहते हैं कि शकुन्तलाके प्रति मेरा अभिलाष परमार्थ नहीं। इससे यह पञ्चम अंकमें विदूषक हंसपदिकाके पास गीतगानके हेतु धन्यवाद देने चला जाता है और शकुन्तला जब आती है तो वहाँ नहीं रहता। हो सकता था कि उसे कुछ स्मरण हो जाता तपोवन-प्रेमप्रसंग।

षष्ठ अंकमें अंगूठी मिलनेपर विदूषक राजासे कहता है कि आप नदी पार कर मृग-तृष्णिकामें प्रवेश कर रहे हैं। पुनः इसी अंकमें मातलि द्वारा पकड़ जाने पर आर्तनाद करता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि विदूषक यहाँ घटनाचक्रको बढ़ानेमें भी योगदान करता है और राजाको मनोरञ्जित करनेके साथ-साथ दर्शकोंका भी मनोरञ्जन करता है।

लेखा-जोखा

इस प्रकार प्रत्येक चरित्रमें सामान्य चित्रणके बाद देखिये पौरस्त्य और पाश्चात्त्य हास्यकारकोंमें साम्य और वैषम्य।

(१) पौरस्त्य विदूषकोंमें हम देखते हैं कि वे स्वयं किसीसे प्रेम नहीं करते हैं जहाँ पाश्चात्त्य हँसोड़ स्वयं भी प्रेमजालमें फँसे देखे जाते हैं। टचस्टोनको ही देखिये किस तरह ऑडेके साथ प्रेमप्रसङ्ग करता है।

(२) इस तरह दूसरा भेद हम यह देखते हैं कि संस्कृत नाटकोंमें कोई भी विदूषक स्वयंका स्वतंत्र अस्तित्व नहीं रखता, जहाँ पाश्चात्त्य जगत्में घटना-सम्वर्धनमें योगदान देनेके साथ उसका अपना भी मूल्य होता है। केवल एक स्थानपर हम माढव्यको देखते हैं कि वह राजाका प्रतिनिधि बनकर राजप्रासाद जाता है।

(३) संस्कृतके नाटकोंके विदूषक नायिकाओंके साथ स्वल्पतम वार्ता कर पाता हैं जहाँ पश्चिमके रूवमों clawn नायिकासे ही अधिक बात करना हैं।

(४) पास्चात्त्य नाटक जगत्में वह Food कहलाता है पर पौरस्त्यमें वह वयस्य है मित्र है कभी अनुचित या अनुचित कार्य नहीं करता। यद्यपि विक्रमोर्वशीयमें उर्वशीके साथ हुए प्रेम-प्रसंगको पत्र आदिको वह रानी निपुणिकाको कह देता है। किन्तु यहाँ भी उसका भाव राजाके प्रति अच्छा ही है। वह चाहता है कि राजा अप्सराके प्रेममें न फसें।

(५) आकृति, रूपरंग, वेशभूषा, रहन-सहन आदिसे हास्य उत्पन्न करनेवाला 'विपट' होनेके साथ साथ वह एक वैदिक प्राणी है, घटनाचक्रमें तथा इसके परिवर्तन परिवर्धनमें योगदान करता है। फन्नी भी है, विट्टी भी और आयरेनिकल भी।

---

१. तेन हि युवराजोऽस्मीदानीं संवृत्तः। (अंक ६)

२. परिहासविजल्पितं सखे परमार्थेन न गृह्यतां वचः। (६.१८)

३. राजा सखे मद्वचनादुच्यतां हंसपदिका, निपुणमुपालब्धोऽस्मीति 'वि०, भो वयस्य गृहीतस्य तया परकीयैर्हस्तैः शिखण्डिके ताड्यमानस्याप्सरसा वीतरागस्येव नास्तीदानीं'मे मोक्षः। (अंक ५)

४. 'एवं मां कोऽपि प्रत्यवनतशिरोधरमिक्षुमिव त्रिभङ्गं करोति'। (अंक ६)

एक लोरी मौत की

गोपालजी मिश्र

★

परिस्थितियोंने सतीश को तोड़-मरोड़ कर रख दिया है। इस समय वह जीवनके उस कगारपर जा पहुँचा है जहाँ अन्धकार ही अन्धकार है। ऐसी गहरी खाईं है आगे, जिसमें गिरा हुआ फिर नहीं लौटता। आज जहाँ उसके कदम लड़खड़ा उठे हैं, यह वह बिन्दु है जहाँ पहुँचकर व्यक्ति एकदम निःशक्त हो जाता है।

लेकिन जब सतीश इतना विवश हो उठा है तो उसकी आँखें भी खुल चुकी हैं। गत मुखर हो उठा है। निविड़ तमिस्रामें प्रकाशकी किरण कौंध उठी है। लेकिन कहीं यह बुझनेके पहले लौ की भभक तो नहीं ?···

आज उसकी इच्छा कर रही है, कि अपना सिर पीट ले। अपने ही हाथों अपना मुँह नोच डाले। इतना थूके, इतना थूके कि सारी दुनिया उसीके नीचे ढक जाय। शायद उसे दुनियासे विरक्ति हो गयी है।

दुनियाका ख्याल आते हो विद्रूपका भयानक अट्टहास कर उठता है वह। शायद अपनी ऊँची आवाजसे उसे विदीर्ण कर टुकड़े-टुकड़े कर डालेगा वह।

लेकिन अगले ही क्षण उसका तीक्ष्ण स्वर अपने हीमें डूब-सा जाता है। अट्टहास कराहमें बदल जाती है, कराह सिसकियोंमें और सिसकियाँ अन्तर्पीड़ामें। उसके अन्तस्‌की घुटन मृत्युकी याचना करने लगती है। पर मौत तो उसे तोड़ रही है, उस अनन्तसे उसे जोड़नेकी कोई चाह नहीं।

वह प्रकाशकी किरण, जो वह सहस्र नेत्रोंसे देखने लगा है, उसकी उँगलीकी पोर पकड़ दूसरी दुनियामें खींच ले जाती है। वहाँ खींच ले जाती है जहाँ गंगा बह रही है, घाटोंको चूमती हुई। जिसकी गोदमें सैकड़ों व्यक्ति क्रीड़ा कर रहे हैं और गंगा है कि स्वयं क्रीड़ा-रत

---

(६) शेक्सपीयरके चारों प्रकारके सुखान्त नाटक तथा कहीं कहीं दुःखान्तमें (Kingdear) में भी विदूषक पाया जाता है किन्तु संस्कृतके उन नाटकोंमें जो रामायण तथा महाभारतको उपजीव्य बनाकर लिखे गये हैं, नहीं पाया जाता है विदूषक।

हास्यका अर्थ हंसनेयोग्य, हास्यस्पद, हँसी, खुशी, मनोरंजन, क्रीडा, मजाक, मखौल, व्यंग्य दिल्लगी, ठठ्ठा आदि होता है।

साहित्यशास्त्रमें हास्य एक रस है तथा हास इसका स्थायी भाव है। 'नरसिंहमनीषा' में इसीलिए कहा है :

विपरीताङ्गविकारैर्विकृताचाराभिधानवेषैश्च ।
विकृतैरर्थविशेषैर्हसतीति रसः स्मृतो हासः ॥

है। आती है, घाटोंके पवित्र पत्थरोंको सहलाती हुई दूर निकल जाती है। सीढ़ियोंके बीच गोलाकार बुर्जको अपने आगोशमें थाम-थाम लेती है।

और वहीं उसी बुर्जपर एक संन्यासी है। वह कुछ कह रहा है। लोग सुन रहे हैं। कभी वह कोई शेर पढ़ता है। कभी कोई भजन गाता है और कभी गीताके श्लोक। हाँ, ठीक है। प्रवचन ही तो कर रहा है वह। गीतापर प्रवचन तथा अपने कथनको पुष्टिमें नाना प्रकारके तर्क, उद्धरण, शेर, चुटकुले और भजन भी बीच-बीचमें जोड़ता चल रहा है।···

आजके लगभग बीस साल पहलेका दृश्य है यह। सतीश तब जवान था। पढ़ाई समाप्तकर दुनियाँदारीमें पहला-पहला कदम रखा था उसने। तब वह रोज ही आता रहा यहाँ। यहीं, गंगाके घाटोंकी सीढ़ियोंके बुर्जके पास जहाँ यह संन्यासी झूम-झूम कर उन्मुक्त हास्यके बीच मानवताके कल्याणके लिए मुक्त-प्रवचन किया करता था।

सतीश प्रभावित था। निर्णय कर लिया था कि अपना जीवन दैविक विभूतियोंसे भर लेगा वह। अपना आंचल पसारकर जितना भी होगा, समेट-बटोर लेगा वह।

उस दिन तो वह प्रवचनके अन्तमें उस संन्यासीके निजी सम्पर्कमें भी आना चाह रहा था, क्योंकि उस दिन उस मस्त योगीने संगतिकी महिमापर प्रवचन किया था—**सङ्गात् सञ्जायते कामः, कामात् क्रोधोऽभिजायते, क्रोधाद् भवति संमोहः, सम्मोहात् स्मृतिविभ्रमः, स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात् प्रणश्यति**···

'नहीं, नहीं।···कुछ भी हो, मैं नाश नहीं चाहता,' सतीश अपने आप ही बुदबुदा उठा था।

बगलमें खड़ी हुई उस लड़कीने मुस्करा दिया था। शायद वह कड़वे व्यंग्यकी मुस्कराहट थी।

उसी रात जब वह सूने पड़ गये घाटसे, कलकी प्रतीक्षामें, अनमना-सा पैर घसीटता घरकी ओर बढ़ चला था तो एकबार वह युवती उससे जा टकराई थी।

हाँ, उसने याचना की थी सतीशसे कि वह उसके घर चलकर उसे सदुपदेश करे।

परोपकारका काम था।

उस दिन जो वह लड़की उसे लग्ज़री-कारमें बैठाकर ले गयी तो महीनों सतीशका पता न चला। हर सुख-सुविधाके बीच उसीके पास रहते-खाते वह ज्ञान-चर्चा करता रहता। लेकिन समय बीतनेके साथ उसका ज्ञान चुकता गया, वहाँकी विलासिता उसपर छाती गयी। और एक समय ऐसा भी आया जब वह हँसा, दिल खोलकर हँसा। गीता उसे काले अक्षरोंकी एक मोटी पुस्तक नजर आने लगी और वह संन्यासी, एक सिरफिरा सिनिक।

सतीशको पता नहीं चला कि कब वह अनाहूत-सा उस युवतीके गैंगमें सम्मिलित हो गया, जो हर तरहकी चोरबाजारी और हेराफेरीसे सम्बन्धित था।

सतीश जवान था। अरमान अंगड़ाई भरकर चरमरा उठे। वह आँख मूँदकर छलाँग लगा गया। उस दुनियामें, जो परदेके पीछेकी होती है। जहाँ लक्ष्मी अठखेलियाँ करती है और सरस्वती पैर दबाती है।

सतीशने पाया कि उसका व्यक्तित्व निखर आया है। वह बड़ा हो गया है। तिजोरी भरने लगी है। अफसर रौबमें आने लगे हैं। अब तो वह जो चाहे, जो भी चाहे, कर सकता है। सर्वसमर्थ हो गया है।

लेकिन सर्वसमर्थ तो सिर्फ ईश्वर हो सकता है, सतीश नहीं।

जब भी कोई इस तरहका विचार अंगड़ाई लेता, सतीश व्यंग्यसे हँस देता और ह्विस्कीकी एक बोतलका तर्पण चढ़ा देता।

और आज बीस वर्ष बाद सतीश शायद फिर अपनी पुरानी दुनियाँमें लौट आया है। लौट आया है या लौट आनेको मजबूर कर दिया गया है। लेकिन अब वह लौट भी कहाँ सकता है। अब तो वह उस बिन्दु पर है जहाँसे समाप्त हो जाना तो सम्भव है पर लौटना नहीं।

आज उसके मुकदमेंका फैसला है। समरी जजमेण्ट। अब इसके बाद कुछ भी नहीं हो सकता। वकीलोंका कहना है कि फाँसी होगी। फाँसी न भी हो तो आजीवन कारावास तो हो ही जायगा। सतीशके लिए सोचना मुश्किल हो रहा है कि दोनोंमेंसे उसके लिए कौन-सा अच्छा रहेगा···

आज उसकी आँखें खुल गयी हैं। आँखोंके भीतरी परदेपर उस संन्यासीकी सूरत नाच रही है जो झूम-झूमकर गंगाके घाटोंके बुर्जपर चीख-चीखकर, तरह-तरहके आकर्षक दलीलोंसे समझा रहा था—**सङ्गात् सञ्जायते कामः कामात् क्रोधोऽ**······

'हाँ, नाश ही होगा···निश्चित है···गीताकी वाणी झूठ कैसे होगी?···तब रही होगी, आजके बीस साल पहले···पर आज तो सच ही होने जा रही है—फाँसी, या आजीवन कारावास। एक ही बात है।···नाश।···'

उस युवतीकी संगति बुरी थी। स्वर्णघट में मदिरा। मदिरा पी लेनेके बाद किसे होश रहता है। और जब होश आया भी तो काफी देर हो चुकी।

सतीशके हृदयमें पश्चात्तापकी जो ज्वाला आज जल रही है, कौन समझ सकता है। खून और पापसे रंगे हाथोंको बार-बार वह देखता है। जो करता है अपने ही हाथों अपना मुँह नोच ले। उसका हृदय आज एक बार फिर उस संन्यासीके चरणोंमें लोट रहा है, गीताके श्लोकोंपर लोट रहा है। दिलके कोनेसे कहीं जैसे दूरसे कोई आवाज आ रही सुनायी देती है—'उत्सर्ग'।

और अब उसके होठोंपर मुस्कान दौड़ गयी है। लोग चौंक उठे हैं—कहीं यह पागल तो नहीं हो चला। मौतके उदास सन्नाटेके समय यह हँसी? आँखोंमें चमक? क्या अर्थ है, इस सबका?

लेकिन सतीशके सामने तो उस संन्यासीका हर्षविभोर चेहरा झूम उठा है जो शायद उससे झूम-झूम कर कह रहा, '**अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि, मा शुचः**'···

और सतीशके कानोंमें समुद्रके गर्जन-सी गम्भीर ध्वनि गूँज उठी है—'**मा शुचः**···**मा शुचः**···**मा**···'

●

सादर निवेदन

[माननीय लेखकों, ग्राहकों एवं अनुग्राहकोंसे]

श्रीकृष्णसन्देशके सातवें वर्षका यह बारहवाँ अङ्क प्रकाशित हुआ है। इस अंकके साथ सातवाँ वर्ष पूर्ण हो रहा है। आगामी अगस्तके विशेषांकसे श्रीकृष्णसन्देशका आठवां वर्ष आरम्भ होगा। हमें यह बतानेमें हर्षका अनुभव हो रहा है कि हमारे विद्वान् लेखकों, प्रबुद्ध पाठकों, ग्राहकों, अनुग्राहकों तथा संमान्य विज्ञापन-दाताओंने इस वर्ष श्रीकृष्ण-सन्देशके प्रति अधिकाधिक हार्दिक सहानुभूति दिखाकर अपनी अनुपम आत्मीयता और प्रगाढ प्रेमका परिचय दिया है। इससे हमारा उत्साह बढ़ा है और हम आप सबके प्रति चिर कृतज्ञ हैं। भारतवर्षके सभी प्रान्तोंमें तथा अन्यत्र भी श्रीकृष्ण-सन्देशका संवादी स्वर मुखरित हुआ है। हमारे अनेक प्रबुद्ध पाठकोंने कई महत्त्वपूर्ण सुझाव भेजकर हमें प्रगतिकी दिशामें अग्रसर होनेकी प्रबल प्रेरणा दी है। हम इन सबके प्रति अत्यन्त आभारी हैं। यह सदा सबको स्मरण रहना चाहिए कि श्रीकृष्ण-सन्देश भगवान्का पत्र है और इसे सर्वथा सहयोग देकर आगे बढ़ाना अथवा इसे अधिकाधिक लोकप्रिय बनाना जनता-जनार्दनका अपना ही प्रमुख काम है। श्रीकृष्णसन्देशने चालू वर्षमें जनताको क्या दिया है, इसका दिग्दर्शन करा देना अप्रासङ्गिक न होगा।

वर्षके विगत महीनोंमें आपने आविर्भावकालमें बालकृष्ण की छवि देखी। अनन्त पराक्रमी श्रीकृष्णके जीवनका चिन्तन किया। प्रचण्ड विक्रान्त और अमोघ आयुधी श्रीकृष्णकी अजेयताका, उनके अमोघ बल-विक्रमका रहस्य आपने जाना : कंसारिविजय का नाटकीय आनन्द उठाया। आधुनिक दृष्टिसे परिशोधित श्रीकृष्ण-चरित्रका रसास्वादन किया। पाण्डव-दूत श्रीकृष्णके अद्भुत प्रभाव का अवलोकन किया। लीलापुरुषोत्तमकी लीलाओंका रहस्य हृद्गत किया। श्रीकृष्णके शाश्वत रूपकी झांकी की। उनकी अन्यान्य लीलाओंका भी सिंहावलोकन किया। अखण्ड भारतके महान् प्रतिष्ठापक राष्ट्रपुरुष श्रीकृष्णका महामहिम स्वरूप देखा। ग्वालकविके दुर्लभ राधाष्टकका दर्शन किया और उसके द्वारा श्रीराधाकी अप्रमेय महिमाको जाना। सुदामाके तन्दुलोंकी करामात देखी। दशहरेपर दिलको फड़का देनेवाली दशकन्धरकी पाती पढ़ी। दीपावलीका ज्योतिपर्व देखा और भैयादूजके अवसर पर भाई-बहनके त्यागपूर्ण पवित्र प्रेमका साक्षात्कार किया। गीतावर्णित श्रम और कर्तव्यके महत्त्वको समझा। आधुनिक परिपार्श्वकी वीरगाथा पढ़ी। कर्मकी गहन गतिकी मीमांसाका मनन किया। भारतकी सुप्त जनशक्ति रूपी मुचुकुन्दको जगानेकी प्रेरणा प्राप्त की। इतिहासके तेवर देखे। नये कलेवरमें पुराना इतिहास पढ़ा। कल्कि-अवतारकी आवश्यकताका अनुभव किया। होली पर हमारे कर्तव्यका निर्देशन प्राप्त किया। सदाशिव पर हिन्दी-कवियोंकी उड़ानें देखीं। श्रीकृष्णने जिन्हें धर्मका सार समझाया उन महापुरुषोंका जीवनवृत्त जाना। रामराज्य या जनराज्यका महत्त्व समझा।

मिट्टीके मोहसे प्रवोध प्राप्त किया। लोकनीति, लोकमर्यादा और सदाचारविषयक श्रीकृष्णका उपदेश पढ़ा। शब्दश्रीके सौन्दर्यका साक्षात्कार किया। शकुनिपर श्रीकृष्णकी विजय देखी। भक्तिमती मोहिनी देवीका पावन चरित्र पढ़ा। कैसे और कब अन्धकारसे फूट पड़ती हैं नयी चेतनाकी किरणें, इसका साक्षात्कार किया। शिक्षाके विषयमें सुधार और सुझाव पढ़ा। गोपालतापनी उपनिषद और कठोपनिषद पर एक परिशीलन देखा। श्रीकृष्णकी अनुपम राज-नीतिज्ञताका परिचय प्राप्त किया। प्रस्तुत अङ्कका विषय तो आप सबके समक्ष प्रस्तुत है ही। इसके सिवा, प्रत्येक अंकमें निगमामृतका पान किया, सूक्ति-सुधाका स्वाद लिया तथा नीतिवचनामृतमें भी अवगाहन किया। इस अमृत और सुधाका पृथक्-पृथक् संग्रह छोटी-छोटी पुस्तिकाके रूपमें प्रकाशित करके पाठकोंके लिए उपलब्ध करानेका विचार है। भविष्यमें और भी उत्तमोत्तम सामग्री प्रस्तुत करनेकी चेष्टा निरन्तर बनी रहेगी।

आजकी महर्घतामें पत्र-पत्रिकाओंका प्रकाशन कितना कठिन हो गया है, यह किसीसे छिपा नहीं है। श्रीकृष्ण-सन्देश कितने अच्छे कागजपर कितनी सफाईके साथ छपता है, यह पाठकोंकी दृष्टिमें है ही; ऐसी दशामें प्रत्येक पाठक महानुभावसे अनुरोध है कि भगवान्‌की सेवा मानकर श्रीकृष्णसन्देशके कमसे कम पाँच-पाँच नये ग्राहक बनानेका अमोघ प्रयत्न करें और सभी ग्राहक नूतन वर्षका शुल्क अग्रिम भेज देनेका कष्ट उठावें, जिससे आगामी विशेषाङ्ककी प्रति रजिस्ट्री द्वारा उनकी सेवामें भेजी जा सके और वी. पी. भेजनेके व्यर्थ खर्चका सामना न करना पड़े। आशा है, जनता-जनार्दनको हमारा यह अनुरोध अवश्य स्वीकार होगा। काशीमें दंगा-फसादके कारण लगभग एक सप्ताहकी देरीसे यह अंक निकल पाया है। पाठक कृपया क्षमा करें।

—सम्पादक

तिलक-जयन्ती

दिनांक १ अगस्त ७२ को स्व० महामनीषी लोकमान्य बाल गङ्गाधर तिलककी जयन्ती है। इस अवसरपर हम उनके चरणोंमें सादर श्रद्धाञ्जलि अर्पित करते हैं। महात्मा तिलकने 'स्वराज्य हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है।' यह महामन्त्र देकर सारे भारतको स्वतन्त्रता-प्राप्तिके लिए जगाया था। आप देशके महान् नेता और महात्मागान्धीके भी गुरुतुल्य वन्दनीय थे। आपने श्रीमद्भगवद्गीतापर विस्तृत भाष्य लिखकर कर्मयोगको ही उसका मुख्य प्रतिपाद्य बताया है। समस्त सिद्धान्तोंकी समीक्षा करते हुए बड़ी प्रौढ़िके साथ अपने सिद्धान्तका प्रतिपादन किया है। ऐसे विद्वान् और मौलिक विचारक नेता किसी भी देशको बड़े सौभाग्यसे प्राप्त होते हैं। हम उनके गीता-रहस्यको पढ़ें, उसका मनन करें और तदनुसार कर्मयोगके पथपर चलें—यही उनके प्रति हमारी सच्ची श्रद्धाञ्जलि होगी।

●

नीतिवचनामृत

१.

यदभावि न तद् भावि भावि चेन्न तदन्यथा ।
इति चिन्ताविषघ्नोऽयमगदः किम्न पीयते ॥

अनहोनी होवै नहीं होनी टरियत नाहिं ।
यह चिन्ता-विषहर दवा पीजिय क्यों न सराहि ॥

२.

पारतन्त्र्यं महादुःखं स्वातन्त्र्य भुवने सुखम् ।
विपिने सुखिनः कीरा दीनाः काञ्चनपिञ्जरे ॥

पराधीनता दुख महा सुख जगमें स्वाधीन ।
सुखी रहत सुक वनविषें कनक पींजरे दीन ॥

३.

अनागतविधाता यः प्रत्युत्पन्नमतिश्च यः ।
द्वावेव सुखमेधेते दीर्घसूत्री विनश्यति ॥

जाकी प्रति-उत-पन्न मति अरु भविष्य पर ध्यान ।
दोउ सुखी, वह नसत है जो आलसी महान ॥

•

सूक्ति-सुधा

[भीष्म द्वारा श्रीकृष्णकी स्तुति]

३.

युधि तुरगरजोविधूम्रविष्वक्-
कचलुलितश्रमवार्यलङ्कृतास्ये ।
मम निशितशरैर्विभिद्यमान-
त्वचि विलसत्कवचेऽस्तु कृष्ण आत्मा ॥

कुरुक्षेत्र - संगरमें तुरग - खुरोंसे उठी
धूलसे सुधूमिल अलक - जाल सारा हो,
उससे लुलित श्रम - सलिल - सुविन्दुओंसे
जिनके सुसज्ज मुखचंदका किनारा हो ।
जिनकी त्वचाको छिन्न-भिन्न करनेमें लग्न
मुक्त मेरे धनुसे सुतीक्ष्ण शर-धारा हो,
लसित कवच कान्त जिनके असित अंग
मग्न उन कृष्णमें ही हृदय हमारा हो ॥

४.

सपदि सखिवचो निशम्य मध्ये
निजपरयोर्बलयो रथं निवेश्य ।
स्थितवति परसैनिकायुरक्ष्णा
हृतवति पार्थसखे रतिर्ममास्तु ॥

बात सुनते ही रणधीर सखा भारतकी
आगे बढ़े जो थे अविलम्ब तीव्रगति हो,
पक्ष औ विपक्षकी विशाल वाहिनीके बीच
रथ ठहराके खड़े हो गये सनति हो ।
आयु हरने थे लगे शत्रु-सैनिकों की वहाँ
दृष्टिपात मात्रसे ही प्रतिकूल-मति हो,
पार्थके सदैव सखा सारथि सुहृद जो हैं
उन भगवान्में अदम्य मेरी रति हो ॥

श्रीकृष्ण-जन्मस्थान-सेवासंघ मथुराके लिए देवधरशर्मा द्वारा आनन्दकानन प्रेस, ढुण्डिराज,
वाराणसी-१ में मुद्रित एवं प्रकाशित